ओ३म्

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

दयानन्द-सन्देश

वैदिक मनोविज्ञान-विशेषाङ्क

सम्पादक:

राजवीर शास्त्री

प्रकाशक:

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७

फोन २२९५४७, ५२८३६०

29.10.2013

दयानन्दाब्द १५३

सृष्टि-संवत् १,९६,०८,५३,०७८

अप्रैल ७८ का संयुक्तांक

मूल्य : ३ रुपये

विषय-सूची

प्राक्कथन	
आधुनिक मनोविज्ञान	३
वैदिक मनोविज्ञान	६
ब्राह्मणग्रन्थों में मनोविज्ञान	१०
उपनिषदों में मनोविज्ञान	१३
चरकसंहिता में मनोविज्ञान	१६
सुश्रुतसंहिता में मनोविज्ञान	२२
वैशेषिकदर्शन में मनोविज्ञान	२४
वैशेषिक-प्रशस्तपादभाष्य में मनोविज्ञान	३३
न्यायदर्शन में मनोविज्ञान	३७
सांख्यदर्शन में मनोविज्ञान	५१
योगदर्शन में मनोविज्ञान	६७
महर्षि दयानन्द और मनोविज्ञान	१०५
मनुस्मृति में मनोविज्ञान	१३५
पाणिनी शिक्षा में मनोविज्ञान	१४५

"दयानन्द-सन्देश" के

स्वामित्व आदि का विवरण

१. प्रकाशन स्थान	२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७
२. प्रकाशन की अवधि	मासिक
३. मुद्रक का नाम	सेण्ट्रल प्रेस
क्या नागरिक भारतीय है	भारतीय
पता	८० डी, कमला नगर, दिल्ली-७
४. प्रकाशक	दीपचन्द आर्य
क्या भारतीय है	भारतीय
पता	२ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७
५. सम्पादक का नाम	राजवीर शास्त्री
क्या भारतीय है	भारतीय
पता	भूपेन्द्र पुरी, मोदीनगर, गाजियाबाद
६. स्वामित्व	आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७

मैं (दीपचन्द आर्य) एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

ह० दीपचन्द आर्य
(प्रकाशक)

दयानन्द-सन्देश फरवरी-मार्च, अप्रैल रजि० नं०
२ एफ, कमलानगर, दिल्ली-७ १९७८ डी (डी०) १९

व्यवहारभानु—मू० २०) सैकड़ा। पृष्ठ ३६

सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों की समीक्षा—पृष्ठ २०८, मू० ५० पैसे

यथार्थ वेदान्त—मूल्य ६० पैसे।

वेद में अनित्य इतिहास नहीं—मू० १) रुपया

सृष्टि-संवत् विचार—पृष्ठ १६४, मू० १-५०

कालाकालमृत्युविचार—पृष्ठ १२०, मू० १-५०

यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय—(महर्षि दयानन्द-भाष्य, व्याख्यासहित मू० १) 893

आर्यसंगीतसागर—२५१ उत्तमोत्तम संगीतों का संग्रह, मू० २) नैट

वेदार्थ-समीक्षा—वेदार्थ विषयक महर्षि दयानन्द तथा सायणाचार्यादि की शैलियों पर विचार एवं सायणाचार्यभाष्य के प्रथम मण्डल के प्रारम्भ के २१ सूक्तों की समीक्षा. पृष्ठ २१२, मू० १-५०

दयानन्द-यजुर्वेदभाष्यभास्कर—२६५० कल्याण के पृष्ठों में मोटे चिकने बढ़िया कागज पर सुन्दर छपाई चारों भागों का मूल्य १२०) पूरी कपड़े की चार आकर्षक जिल्दें। ४० प्रतिशत कमीशन।

दयानन्द यजुर्वेदभाष्य-भाषानुवाद—अर्थात् दयानन्द यजुर्वेद भाष्य-भास्कर से हिन्दी भाष्य। दो भाग, मूल्य ५०) कमीशन ४० प्रतिशत

वैदिक कोष—(महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य एवं सत्यार्थप्रकाश आदि समस्त ग्रन्थों से संगृहीत वैदिक पदों के अकारादि क्रम से अर्थ, अनेक विशेषताएँ भी मूल्य १००) कमीशन ४० प्रतिशत।

प्रमाण-सूची—महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों से संकलित मूल्य सजिल्द ६) रुपया

यजुर्वेद देवतार्थ विषय-सूची—मू० ५) महर्षि के यजुर्वेद भाष्य से संकलित।

ब्राह्मण मन्त्र-विनियोग-सूची—ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य, षड्विंश, गोपथ ब्राह्मणों में व्याख्यात वेदमन्त्रों की अकारादि क्रम से सूची मूल्य ७) सजिल्द।

नोट—पचास रुपये की पुस्तकें एक साथ लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा सैकड़ा वाले मूल्य पर कोई कमीशन नहीं होगा। ४० प्रतिशत पर लिख दिया है।

मुद्रक—सैंट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस ८० डी, कमला नगर, में मुद्रित तथा दीपचन्द आर्य द्वारा "दयानन्द-सन्देश" कार्यालय, २ एफ, कमला नगर, दिल्ली-७ से प्रकाशित।

प्राक्कथन

पाठकों की सेवा में 'दयानन्द-सन्देश' का 'वैदिक मनोविज्ञान' विशेषांक प्रस्तुत करते हुए जहाँ हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है, वहाँ एक नवीन विषय को प्रस्तुत करते हुए पाठकों को एक चिन्तन-सामग्री देकर विचार करने के लिए प्रेरित भी करना चाहते हैं। हमारा प्राचीन वैदिक वाङ्मय अमित ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य निधि है, उसका सम्यक् अनुशीलन तथा समन्वय न होने से हम उस ज्ञान से वञ्चित ही रह जाते हैं। आज शिक्षा क्षेत्र में मनोविज्ञान की चर्चा अवश्य है, किन्तु वैदिक मनोविज्ञान से वह पर्याप्त दूर ही प्रतीत हो रहा है। और उसमें अनेक भ्रान्तियाँ भी विद्यमान हैं। हमने यह मनोविज्ञान की सामग्री उन आप्त पुरुष ऋषि-मुनियों के स्वानुभूत ज्ञान के प्रकाशक प्रामाणिक ग्रन्थों से संकलित की है, जो उस विषय के साक्षात्द्रष्टा थे। ईश्वरीय शाश्वत ज्ञान वेद तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थों से मन-विषयक सामग्री में तथा दर्शनों में परस्पर कहीं भी मतभेद नहीं है, अतः इसकी महत्ता और भी बढ़ गई है। दर्शन-ग्रन्थों में प्रत्येक विषय का लक्षण व परीक्षा करके निर्णय किया गया है। हमने यहाँ न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा योग चार दर्शनों से विषय का संकलन करने का पूर्ण प्रयास किया है। क्योंकि लक्षण-परीक्षा क्रम से उपदिष्ट बातों का हार्दिक प्रभाव पड़ता है।

मनोविज्ञान का महत्त्व—

मानव-जीवन में मन का अपना विशिष्ट स्थान है। क्योंकि आत्मा का मन करण है, उसी से आत्मा धर्म-अधर्म कार्यों में प्रवृत्त होता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः' अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है, यह ठीक ही कहा गया है। वैसे तो समस्त जीवन में मानसिक क्रियाओं की उपयोगिता सदा बनी रहती है, किन्तु बाल्य-काल में विद्यार्जन के लिए मनोवृत्तियों का संयम करके मानव ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति से दानवता को छोड़कर मानव ही नहीं, प्रत्युत देवता बन जाता है। वेद में लिखा है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। (अथर्व०)

अर्थात् यह हमारा शरीर देवों की एक नगरी है, जिसमें आठ चक्र और नौ द्वार हैं। और दूसरे स्थान पर लिखा है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ॥ वेद ॥

अर्थात् सात ऋषि (नेत्र, कर्णादि विषयों का साक्षात्कार करने से ऋषि हैं) इस शरीर में कार्य कर रहे हैं। इस देवों की नगरी तथा ऋषियों की यज्ञभूमि का निर्माता मन ही तो है। मन के शिवसंकल्प तथा सुसारथि होने पर यह शरीर यथार्थ में देवों की अयोध्या=अपराजित नगरी बन सकता है। 'जगत् जितं केन मनो हि येन' अर्थात् संसार को कौन जीत सकता है, जिसने अपने मन को जीत लिया है। इसलिए कहा जाता है—'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार'।

वेद में इसके विषय में कैसा सुन्दर वर्णन किया है —

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते। (यजु०)

इस मन के बिना आभ्यन्तरिक तथा बाह्य कोई क्रिया सम्भव नहीं है। ऐसे ज्ञान-विज्ञान के साधक, बन्ध-मोक्ष के कारण जन्म-जन्मान्तरों में साथ जाने वाले अमृत, अजिर=जीर्ण न होने वाले, जविष्ठ=अतिशय वेग वाले तथा सुसारथि मन का ज्ञान यदि मानव कहीं कर पाता, तो मानव जीवन की क्या सफलता है?

प्राचीन ऋषियों ने इस मनोविज्ञान का गम्भीराध्ययन, मनन एवं चिन्तन किया था, और अपने जीवनों को श्रेष्ठतम बनाने का भागीरथ प्रयत्न किया था। सभी भारतीय प्राचीन दर्शनकार एक मोक्ष-पथ के ही पथिक बने हैं, और उन्होंने मन की वृत्तियों के निरोध को ही योग, मिथ्या-ज्ञान को दूर करके ज्ञान का प्रापक तथा दुःख और दुःख के कारणों से पृथक् होकर सुख-प्राप्ति का परम-सहायक मन को ही माना है। इस मन में जन्म-जन्मान्तरों में संचित कर्म-राशि तथा उनकी वासनाएँ भरी हुई हैं। वे अपने-अपने उद्बोधक कारण तथा समय पर प्रस्फुटित, पल्लवित तथा फलित होती रहती हैं।

इन मानसिक संस्कारों के वशीभूत होकर ही मानव कार्यों में प्रवृत्त हो रहा है। इनमें शुभाशुभ उभयविध संस्कार विद्यमान होते हैं। शिक्षा के समय शुभ संस्कारों का उचित वातावरण तथा उचित साधनों से विकास करना और अशुभ संस्कारों को दग्धबीजवत् प्रसव-योग्य न रहने देना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होता है। और अन्तःकरण के मलों और मलीन वासनाओं को धोकर शुद्ध ज्ञानामृत से पूर्ण करना ही शिक्षा का चरम लक्ष्य है।

प्राचीन शिक्षाशास्त्रियों एवं दर्शनकारों ने मिल कर तथा योजनाबद्ध होकर इस लक्ष्य की प्राप्ति की थी। वह संचित ज्ञानराशि तप-साध्य होने से नवीन-सभ्यता में पालित-पोषित तथा सांसारिक भोगविलासों में निरत व्यक्तियों को हेय प्रतीत हो रही है। किन्तु सत्य तथा हितकर होने से कल्याण उसके बिना सम्भव नहीं। आजकल प्रचलित मनोविज्ञान बिना परिमार्जन के कैसे अपवित्र-पात्र में पवित्र ज्ञानामृत डालकर मानसिक संस्कारों का परिष्कार कर सकता है? यह एक कल्पना ही प्रतीत होती है।

शिक्षा में मनोविज्ञान की आवश्यकता—

अबोध बालक के मन में छिपी हुई विविध शक्तियाँ रहती हैं। प्रत्येक गुरु या आचार्य को इतना मनोविज्ञान तो अवश्य आना चाहिए कि वह बालकों की आकृति, उसके रहन-सहन के ढंग, उसके खेल-कूद के चुनाव और उसकी अन्य प्रवृत्तियों से बालकों के अन्तःकरण में छिपी शक्तियों को जान सकें। क्योंकि शक्तियों के जानने के बाद ही आचार्य उनको प्रस्फुटित, पल्लवित तथा विकसित करने में सहायक हो सकता है। आचार्य बालक के अन्तः-करण के अनुकूल संकल्पों को जन्म देकर बालक के भावी कार्यक्रम का निर्धारण भी कर सकता है। जिससे उसके प्रसुप्त संकल्प जागृत होकर शनैः-शनैः विशाल तरुवर का रूप धारण कर लें। माता, पिता और आचार्य इस संकल्प-तरु को समय समय पर सींचकर मुर्झाने न देवें। वे बालक बहुत ही भाग्यशाली हैं, जिन्हें ऐसे मनोवैज्ञानिक, योग्य-माता, पिता तथा गुरुजन प्राप्त होते हैं।

क्या मन के बिना ज्ञान सम्भव है?

मन की सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है? हमारे शरीर में मस्तिष्क, सुषुम्णा, हृदय, ज्ञानतन्तु, कर्मतन्तु आदि जो ज्ञान और क्रिया में अन्तःकरण के सहायक साधन माने जाते हैं। इन साधनों से ही ज्ञान और क्रिया सम्बन्धी समस्त कार्य सम्पन्न हो सकता है फिर अन्तःकरण (मन) की पृथक् सत्ता मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि मन की सत्ता स्वीकार करने में निम्नलिखित कारण हैं—

(१) संस्कारों का आधार और उन संस्कारों के द्वारा होने वाली स्मृति का साधन मस्तिष्कादि को नहीं माना जा सकता। पैदा होते ही बच्चे की स्तन-पान की प्रवृत्ति, लेटे-लेटे ही अचानक कभी हंसना अथवा रोना,

पूर्व-जन्म की घटनाओं का स्मरण होना, और अल्पायु में ही किसी का प्रगल्भ विद्वान् बन जाना, तथा किसी को प्रयत्न करने पर भी कुछ न आना इत्यादि बातें पूर्व जन्मगत संस्कारों को सिद्ध करती हैं। और उनका आधार मस्तिष्कादि को कभी भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि ये तो शरीर के साथ भस्म हो जाते हैं। इन स्मृतियों का कारण माता पिता को भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन घटनाओं का माता-पिता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। और एक ही माता-पिता के भिन्न २ संस्कारों व प्रवृत्ति के बच्चों का होना और विद्वान् माता-पिता की मूर्ख तथा मूर्ख माता-पिता की विद्वान् सन्तान का होना इस बात की पुष्टि कर देता है कि पूर्व जन्म के संस्कार अवश्य होते हैं। और उनका आधार मन (अन्तःकरण) है।

पूर्व जन्म के सभी संस्कारों की स्मृति इस जन्म में क्यों नहीं होती ? इसका भी कारण है। यह ठीक है कि संस्कारों का आधार अन्तःकरण होता है किन्तु सभी संस्कारों की स्मृति न होने के कुछ कारण हैं—

(क) संस्कारों की दृढता और निर्बलता।

(ख) संस्कारों के उद्बोधक कारण का उपस्थित होना या न होना।

संस्कारों की दृढ़ता के दो कारण होते हैं—एक तो ज्ञान के समय ही संस्कारों को गहरी छाप पड़ना और दूसरा एक ही संस्कार की बार बार स्मृति होना। इस जन्म में ही हमें बहुत से संस्कारों की स्मृति नहीं रहती। निर्बल या अनावश्यक होने के कारण संस्कार छिपे पड़े रहते हैं। एक जन्म से दूसरे जन्म पाने तक भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुमण्डलों में रहना भी स्मृति न होने के कारण हैं। क्योंकि उनके संस्कार निर्बल हो जाते हैं। और बहुत सी घटनाओं की विस्मृति हो जाती है। इसी प्रकार उद्बोधक कारण के उपस्थित न होने पर भी स्मृति नहीं होती। जैसे इसी जन्म में कई वर्ष पूर्व किसी व्यक्ति को किसी स्थान पर देखा था और उसके स्थानान्तर होने पर कालान्तर में उसको भूल गए। यदि संयोग वश अनेक वर्षों के बाद वही व्यक्ति या उसको दी हुई चीज देखने को मिल जाती है तो उद्बोधक का कारण के होने से वे स्मृतियाँ पुनः उद्बुद्ध हो जाती हैं।

(२) हम सभी यह अनुभव करते हैं कि अनेक बार हम सुनते हुए भी नहीं सुन पाते और देखते हुए भी नहीं देख पाते। इसका कारण क्या है ? मस्तिष्क आदि के होते हुए भी कौन सा कारण है कि जिसके संयोग के विना

ज्ञान नहीं हो रहा ? वह मन ही है। हम सब भी ज्ञान न होने पर यही उत्तर देते हैं कि मेरा ध्यान नहीं था। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अन्वयव्यतिरेक न्याय से इसका कारण मन ही को माना है। यदि मन की सत्ता को कोई स्वीकार नहीं करता, तो उसे दो प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। एक तो यह कि हम बहुत बार देखते हुए भी क्यों नहीं देखते, और सुनते हुए भी क्यों नहीं सुनते ? दूसरा प्रश्न यह है कि मस्तिष्कादि सभी साधनों के होते हुए भी एक समय में अनेक ज्ञान क्यों नहीं होते ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर मन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बनता।

आत्मा का मन के साथ क्या सम्बन्ध है ?

मनोविज्ञान के प्रसङ्ग में आत्मा का वर्णन नवीन मनोवैज्ञानिक अनावश्यक मानकर नहीं करते। किन्तु जैसे शरीर के साधनों व इन्द्रियों के विना मन का कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार मन के विना आत्मा भी कुछ नहीं कर सकता यद्यपि आत्मा की प्रेरणा और उसी के नियंत्रण में मन कार्यों का संचालन करता है, किन्तु सुख-दुःखादि उपलब्धि का कारण मन ही है।

आत्मा चेतना का आश्रय है। हमें अपने अन्तःकरण के द्वारा जितने भी ज्ञान प्राप्त होते हैं उन सबका ज्ञाता आत्मा ही है। हमारी इन्द्रियाँ अन्तःकरण तथा मस्तिष्कादि सब जड़ पदार्थ हैं। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण प्रकाश के साधन होने से प्रकाश कहे जाते हैं परन्तु जो प्रकाश आत्मा में है, वह इन में नहीं। जिस प्रकार सूर्य वृक्ष पर अपना प्रकाश डालकर उसे प्रकाशित कर देता है, परन्तु जड़ होने के कारण यह नहीं जान सकता कि यह वृक्ष है। वैसे ही मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी सूर्य की भांति ही वृक्षादि को प्रकाशित तो कर देती हैं, परन्तु वे यह नहीं जान सकतीं कि यह वृक्ष है। आत्मा मनादि से प्रकाशित वृक्षादि का चैतन्य के वल से अनुभव करता है। इस अनुभव का साधन जो आत्मा में चैतन्य है, उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियाँ और मन नहीं कर सकते। अपने इस ज्ञान का प्रत्यक्ष या तो आत्मा स्वयं करता है या इसके ज्ञान का प्रत्यक्ष ईश्वर को होता है। इस प्रकार आत्मा के और ईश्वर के ज्ञान या चैतन्य को जानने में इन्द्रियाँ या मन अशक्त हैं। चैतन्यता इनकी पहुँच से परे है। इसलिए उपनिषत्कार कहते हैं—'न तत्र सूर्यो भाति।' उस चैतन्य ईश्वर के प्रकाश के समक्ष सूर्य नहीं चमकता। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि ईश्वर का प्रकाश सूर्य-चन्द्र

सदृश नहीं है। अन्यथा सूर्य से सहस्रों गुणा ईश्वरीय प्रकाश नेत्रों से सूर्य के प्रकाश के समान अवश्य दीखता और ईश्वर के तो हमारे अत्यन्त समीप होने के कारण आँखें चकाचौंध हो जातीं। अतः ईश्वर का प्रकाश भी आत्मा के ज्ञान के समान अनुभव करने योग्य है। इसके लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' अर्थात् ईश्वर के प्रकाश से सूर्यादि सब चमकते हैं, इस का अभिप्राय यह है कि ईश्वर का ज्ञान इतना अगाध है कि संसार का प्रत्येक अणु और उसकी शक्तियां उसमें स्पष्ट रूप से भास रही हैं। वह अणुओं की शक्तियों को जानकर ऐसी रचना करता है कि सूर्यादि पदार्थ अनेक रूपों में चमकने लगते हैं। ईश्वरीय ज्ञान के बिना ऐसी विचित्र रचना सम्भव नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि आत्मा चेतनावान् तत्त्व है। उसे चेतना तथा अनुभव के द्वारा सांसारिक पदार्थों का ज्ञान होता है। इन्द्रियां, मन, मस्तिष्कादि सब ज्ञान के साधन मात्र हैं। इसलिए आत्मा का मन आदि साधनों के साथ साधक-साधन भाव का सम्बन्ध है।

आत्मा का शरीर में स्थान कहां है ?

चरक-सुश्रुतादि आयुर्वेद के ग्रन्थों में आत्मा या उसके निवास स्थान का वर्णन नहीं किया, क्योंकि उन्हें आत्मा की चिकित्सा आयुर्वेद का विषय न होने से आत्मा के वर्णन की आवश्यता भी न थी। पुनरपि हृदय का वर्णन करते हुए 'चेतनास्थानमुत्तमम्' हृदय को चेतना का उत्तम स्थान माना है। यद्यपि आत्मा के स्थान का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं किया है, किन्तु चेतनावान् आत्मा ही है, अतः आत्मा का स्थान हृदय ही उन्हें अभिप्रेत है। आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत उपनिषदों में आत्मा का स्थान हृदय में माना है।

विवादास्पद विषय—

महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के नवम-समुल्लास में लिखा है कि "न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त ईश्वर का ध्यान करने से मनादि पदार्थों का साक्षात् होता है।" अतः ईश्वरोपासनादि से पराङ्मुख व्यक्ति यथार्थ में मनोविज्ञान को नहीं समझ सकते। महर्षियों के स्वानुभूत ज्ञान-प्रकाशक ग्रन्थों में अविरुद्ध सिद्धान्त के होते हुए भी कतिपय मनादि विषयों में विद्वानों को भी भ्रान्तियाँ होती रही हैं। जैसे कुछ विद्वानों का मत है कि—

(क) मन आत्मा की ही शक्ति है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। क्योंकि अचेतन मन ज्ञानादि का प्रकाशक नहीं हो सकता।

(ख) कुछ विद्वान् मन की सत्ता ही नहीं स्वीकार करते हैं। उनके विचार में मस्तिष्कस्थ ज्ञानतन्तु ही ज्ञान के साधन हैं, मन नहीं।

(ग) कुछ विद्वानों के विचार में मन और बुद्धि दो पृथक् तत्त्व हैं। और दर्शनादि शास्त्रों के समझने में भी उन्हें भ्रान्ति ही हुई है। इत्यादि मतभेदों का जहाँ इससे उन्मूलन होगा, वहाँ सत्य-ज्ञान का प्रकाश भी होगा। दर्शनग्रन्थों के मनादि विषयक स्थलों की व्याख्या में भी कुछ भ्रान्तियाँ हुई हैं, उनमें कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) सांख्यदर्शन में 'महदाख्याद्यं कार्यं तन्मनः (सां० १।७१) सूत्र में मन की व्याख्या=मनन साधन निश्चयात्मक अन्तःकरण (श्री स्वामी ब्रह्ममुनि आदि) की है। यह सांख्यदर्शन की अपनी अन्तःसाक्षी से भी विरुद्ध है। क्योंकि इसी दर्शन में १।६१ सूत्र में 'उभयमिन्द्रियम्' से मनादि ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है। और 'उभयात्मकं च मनः' (सां० २।२६) सूत्र में स्पष्ट रूप से मन को उभयात्मक माना है। और यदि मन की गणना (१।६१) सूत्र में नहीं की जाए, तो २५ तत्त्वों की पूर्ति नहीं होती। अतः मन जो इन्द्रिय व अन्तःकरण है, उसकी उत्पत्ति अहङ्कार से होती है, ऐसा ही सांख्यदर्शन में करण प्रकरण में स्वीकार किया गया है। किन्तु (१।७१) सूत्र में 'मनः' का अर्थ 'महत्तत्त्व' ही करना चाहिए। मन का अर्थ धात्वर्थ के अनुसार अवबोधन है। महत्तत्त्व प्रकृति की अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था का बोध कराने से 'मनः' कहलाता है। मनुस्मृति में भी महत्तत्त्व के अर्थ में 'मनः' शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'मनः' शब्द से संकल्प-विकल्पात्मक मन कदापि अभिप्रेत नहीं है।

(२) सूक्ष्म शरीर के लिए सांख्य में 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' (सां०-३।९) सूत्र पठित है। इसका भाष्य भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। जैसे—

(क) १३ करण और ५ तन्मात्राएँ, ये अठारह तत्त्व सूक्ष्म शरीर में होते हैं। (श्री उदयवीर जी शास्त्री)

(ख) ५ तन्मात्राएँ, ११ इन्द्रियाँ, १ अहंकार, १ महत्तत्त्व, ये अठारह तत्त्व सूक्ष्मशरीर में होते हैं। (श्री स्वामी ब्रह्ममुनि)

(ग) ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार, ५ तन्मात्राएँ, यह सूक्ष्मशरीर है। (श्री स्वामी दर्शनानन्द जी)

परन्तु महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ० नवमसमु० में सूक्ष्मशरीर के १७ तत्त्व माने हैं—५ प्राण, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ सूक्ष्मभूत, मन और बुद्धि। क्या इनमें पाठकों को विरोध प्रतीत नहीं होता? फिर किसको सत्य माना जाए? ऋषियों की गूढ़ बातों को ऋषि ही समझ सकते हैं। जौहरी ही हीरों को परख कर सकता है। अतः महर्षि दयानन्द का लेख ही प्रामाणिक होने से मान्य होना चाहिए। और इसमें सांख्यदर्शन की साक्षी भी है। सांख्य में सूक्ष्मशरीर को (३। १४) सूत्र में अणुपरिमाण=सूक्ष्म माना है और (सां० ३।३ तथा ३।४) में सूक्ष्मशरीर कोमुक्ति पर्यन्त जन्म-जन्मान्तरों में जीवात्मा के साथ जाने वाला माना है। कर्मेन्द्रियों का जीवात्मा के साथ मरणोत्तर जाना कैसे सम्भव है? और श्री स्वामी दर्शनानन्द जी ने ज्ञान का वाचक बुद्धि को मानकर सूक्ष्मशरीर में बुद्धि को नहीं रक्खा है। किन्तु बुद्धि शब्द ज्ञान का वाचक होते हुए अन्तःकरण की वृत्ति भी है। इसके लिए पृथक् से देखने की कृपा करें।

(३) बुद्धि क्या है? 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग (न्याय० १। १। १५) में ज्ञान के अर्थ में माना है। और वैशेषिक ने भी बुद्धि को ज्ञानवाची मानकर गुणों में इसको गिना है। यह 'बोधनं बुद्धिः' ऐसा अर्थ करके संगति लगानी चाहिए। इसी प्रकार महत्तत्त्व अर्थ में भी 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग होता है। जैसा कि 'प्रकृतेर्महान्०' सूत्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने महान्=बुद्धि अर्थ किया है। किन्तु यहाँ 'बुध् अवबोधने' धात्वर्थ के अनुसार ही अर्थ लगाना चाहिए। क्योंकि अव्यक्त प्रकृति का प्रथम कार्य महत्तत्त्व अपेक्षाकृत व्यक्तावस्था होने से बोधावस्था है। सम्भव है महर्षि दयानन्द ने सूक्ष्म-शरीर के वर्णन में जो 'बुद्धि' तत्त्व गिनाया है, वह महत्तत्त्व ही हो। क्योंकि ज्ञानार्थ में वहाँ बुद्धि शब्द का प्रयोग नहीं है ज्ञान तो आत्मा का गुण है ही। और अन्तःकरण की अन्यतम वृत्ति होने से बुद्धिवृत्ति का 'मन' में समावेश हो जाता है।

परन्तु 'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' इस विग्रह से जो अर्थ 'बुद्धि' का है, वह मन की ही एक वृत्ति है। न्यायदर्शन में १। १। १७ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—"मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्—बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः।" अर्थात् इस सूत्र में (प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः) 'बुद्धि' शब्द से

'ज्ञान' अर्थ नहीं लेना चाहिए क्योंकि यहां 'बुद्धि' शब्द 'मन' के लिए आया है। इसी की पुष्टि वात्स्यायन० भाष्य में (न्याय० ३। २। ३) में भी की है—"बुध्यतेऽनयेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते।" इसका कारण यह है कि सूत्र में प्रवृत्ति का वर्णन किया गया है। प्रवृत्ति=(व्यापार) ज्ञान की नहीं, अपितु मन की होती है। महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद के शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या में निश्चयात्मक वृत्ति तथा स्मरणात्मक वृत्ति मन की ही मानी है। अतः पाठकों को इस रहस्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, (विशेष कर शास्त्रीय चर्चा में) कि बुद्धि शब्द का प्रयोग कहाँ किस अर्थ में हुआ है।

(४) **मन का स्थान**—शरीर में मन का स्थान कहाँ है? इस विषय में भी पर्याप्त मतभेद विद्वानों में है। परन्तु वेदादि शास्त्रों में मन का स्थान हृदय में माना है (वेद में तो स्पष्ट लिखा है—'हृत्प्रतिष्ठम्' (हृदि प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य) अर्थात् मन का स्थान हृदय में है। किन्तु 'हृदय' के विषय में भी मतभेद देखा गया है। कोई दो हृदय मानते हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द जो सदा सत्य के ही अन्वेषक रहे, जिन्होंने अपने जीवनकाल में गंगा में बहते मुर्दे को फाड़कर देखा और पुस्तक में लिखी मिथ्या बात को नहीं माना, ऐसे आप्त पुरुष ने हृदय का स्थान बताते हुए लिखा है—

(क) "कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं।"

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

(ख) ऋ० भू० में सृष्टिविद्याविषय में हृदय के वाचक दशाङ्गुल शब्द की व्याख्या में महर्षि ने—५ प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा दशम जीव माना है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मन बुद्धि आदि का स्थान हृदय ही है। और मनादि सूक्ष्म-शरीर के घटक हैं। सूक्ष्म-शरीर से जीवात्मा आवेष्टित रहता है। इससे भी स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त हो जाता है कि मनादि का स्थान हृदय ही है, मस्तिष्कादि नहीं।

(५) **मन शरीर से बाहर नहीं जाता**—मन के विषय में एक यह भी भ्रान्ति है कि मन शरीर के बाहर जाकर दूसरे शरीरों में कार्य कर सकता है। वैसे तो यह सूक्ष्म विषय होने से सर्वजन बोध्य नहीं है। पुनरपि इस विषय में निम्न बातों से यही निश्चित होता है कि जीवात्मा के बिना मन कदापि बाहर जाकर कार्य नहीं कर सकता। (क) मन आत्मा का एक

साधन है। साधन अचेतन होने से स्वयं कभी कोई कार्य नहीं कर सकता। (ख) न्याय० ३।२।६१। वात्स्या० भाष्य में लिखा है—

'मनसः खलु यो सेन्द्रियस्य शरीर-वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्' ।।

अर्थात् मन की प्रवृत्ति शरीर में इन्द्रियों द्वारा ही होती है, शरीर से बाहर नहीं। (ग) महर्षि दयानन्द ने शिवसंकल्प मन्त्र में पठित 'दैवम्' पद की व्याख्या में लिखा है—देवे=आत्मनि भवं दैवं (मनः) अर्थात् मन को दैव इसलिए कहा जाता है कि यह देव=आत्मा के आश्रय से ही रहता है। अतः मन जीवात्मा के विना नहीं रह सकता।

(६) **मन चेतन नहीं है**—नवीन वैज्ञानिक मन को ही चेतन मन मान बैठे हैं। यह उनकी भ्रान्ति है। मन के द्वारा जीवात्मा ज्ञान-प्राप्ति तथा प्रवृत्ति करता है। मन की प्रवृत्ति स्वतः नहीं है। जैसे हम व्यवहार में कह देते हैं कि आंख देखती है, कान सुनता है इत्यादि गौण प्रयोग है। यथार्थ में जीवात्मा के संयोग के विना इन साधनों की प्रवृत्ति कदापि सम्भव नहीं है।

(७) **मन को अमृत क्यों कहा है**—यजुर्वेद के शिवसंकल्प मन्त्रों में मन को 'अमृत' शब्द से कहा गया है। उससे भी कुछ भ्रान्ति फैली है कि यदि मन प्रकृति का विकार है, तो वह अमृत=नित्य कैसे ? वास्तव में मन को 'अमृत' कहने का भाव इतना ही है कि यह इस नश्वर शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। यह जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मान्तरों में भी रहता है।

(८) **मन और इन्द्रियां भौतिक नहीं**—सांख्यादि दर्शनकारों ने मन और इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है, पञ्चभूतों से नहीं। और पञ्चभूतों की उत्पत्ति पाञ्च तन्मात्राओं से होती है। अतः ११ इन्द्रियाँ अभौतिक ही हैं। किन्तु अहंकार का विकार होने से प्रकृति से बनी हुई हैं और स्वयं जड़ हैं। परन्तु न्यायदर्शन के १।१।४ सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में लिखा है—

'भौतिकानीन्द्रियाणि, मनस्त्वभौतिकम्।' अर्थात् इन्द्रियाँ भौतिक हैं, और मन अभौतिक। इससे उपर्युक्त सांख्यादि वचनों से विरोध प्रतीत होता है। परन्तु न्याय के ही 'भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्' (न्याय० ३।१।६०) सूत्र से इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्थात् ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के भूतों के गुणों का ग्रहण कराने के कारण ही

भौतिक कहलाती हैं। जैसे—नेत्र रूप का ग्रहण, कान शब्द का ग्रहण, तथा नासिका गन्ध का ही ग्रहण करती है। इसलिए इन्हें भौतिक कहा गया है। यथार्थ में इनकी उत्पत्ति अहंकार से होने से अभौतकि ही है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ सूक्ष्म-शरीर के साथ भी जन्म-जन्मान्तरों में भी जाती हैं। पृथिवी आदि भूतों से जो इन्द्रियों के गोलक शरीर में बने हैं, वे कभी भी साथ नहीं जा सकते।

(९) **क्या मन विभु है**—सांख्यादि दर्शनों में मन का परिमाण अणु=सूक्ष्म माना है। और मन सूक्ष्म शरीर का घटक है, जो कि स्वयं सूक्ष्म है। इसलिए मन कदापि विभु नहीं है। अन्यथा यदि शरीर में व्यापक हो, तो सब इन्द्रियों से सदा सम्पर्क होने से युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए। किन्तु ऐसा न होने से मन एकदेशी और सूक्ष्म है। और वह क्रम से ही इन्द्रियों से सम्पर्क कर सकता है।

इस विशेषाङ्क में—उपर्युक्त विवादास्पद विषयों से भिन्न निम्न विषयों पर वेद, दर्शन, स्मृति आदि शास्त्रों के अनुसार विचार किया गया है—

(१) मन प्रकृति का विकार होने से जड़ है और यह अहंकार का विकार है।

(२) मन इन्द्रिय है और इसका सम्बन्ध सब इन्द्रियों से होने से मन को 'उभयात्मक' कहते हैं।

(३) मन अतीन्द्रिय तथा प्रतिशरीर में एक है।

(४) मन की चतुर्विध वृत्तियाँ हैं—मनन, स्मरण, अहंकार और निश्चय करना। महर्षि ने वेदभाष्य में लज्जादि को भी मन की वृत्ति माना है।

(५) मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक है, और यह जन्म-जन्मान्तरों में जीव के साथ रहता है, मुक्ति तक।

(६) मन आत्मा से भिन्न है।

(७) मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय।

(८) मन में परिणाम नित्यता है, कूटस्थ नित्यता नहीं।

(९) मन अन्य इन्द्रियों में प्रधान है।

(१०) मन क्षणिक नहीं है।

(११) मन का व्यापार मोक्षप्राप्ति तक ही है।

(१२) मन में वासनाएँ अनादिकाल से हैं।

(१३) मन (चित्त) का ज्ञान हृदय में होता है।

(१४) मनस्थ संस्कारों में जाति, देश तथा काल के कारण बाधा नहीं होती।

(१५) मनादि प्रकृति-विकारों का मोक्ष में अभाव रहता है।

(१६) अन्तःकरण के मल (विक्षेप) और उनकी शुद्धि के उपाय।

(१७) मन के एकाग्र करने के उपाय।

(१८) चित्त की मूढादि पांच अवस्थाएँ।

(१९) मन की क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से द्विविध वृत्तियां हैं।

(२०) मन अन्तःकरण है।

(२१) मन द्रव्य है, गुण नहीं।

(२२) योगियों को पूर्व जाति का ज्ञान आनुमानिक होता है। चित्तस्थ संस्कारों को जानकर पूर्व जन्म का ज्ञान होता है।

(२३) मानसिक कर्म और उनके फल।

(२४) मन का त्रिगुणप्रधानता का वर्णन।

(२५) स्मृति के कारणों का वर्णन।

(२६) ज्ञान की प्रक्रिया क्या है?

(२७) मोक्ष में मनादि परक शास्त्रीय वचनों का क्या अभिप्राय है?

इत्यादि उपर्युक्त मन सम्बन्धी विषयों पर शास्त्रीय वचनों का यथामति मैंने संकलन तथा समन्वय किया है, और परस्परविरुद्ध प्रतीत होने वाले विषयों की संगति भी अन्तःसाक्षी के आधार पर लगाने का पूर्ण प्रयास किया है। पुनरपि सहृदय विद्वद्वरों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें यदि कहीं कोई त्रुटि प्रतीत हो, तो अवश्य सूचित कर उदारता का परिचय देवें। आशा है विज्ञ पाठक इस मनोविज्ञान के विशेषांक से जहाँ विभिन्न फैली हुई भ्रान्तियों से बच जायेंगे, वहाँ सत्य-ज्ञान से प्रकाशित भी होंगे। और प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के मनोवैज्ञानिकों के खोजपूर्ण विचारों को पढ़कर लाभान्वित होंगे।

माघ शुक्ला पञ्चमी
सं० २०३४ विक्रमी
दिनांक १२। २। १९७८

विदुषां वशंवद
राजवीर शास्त्री

आधुनिक मनोविज्ञान

आज शिक्षा के क्षेत्र में नवीन मनोविज्ञान की अत्यधिक चर्चा है। हमारे महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान को एक विषय के रूप में भी पढ़ाया जाता है। प्राचीन मनोविज्ञान के साथ नवीन मनोविज्ञान को देना इसलिए भी अत्यावश्यक है कि जिससे दोनों विज्ञानों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। नवीन मनोविज्ञान में निम्न प्रकार से मनादि के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है—

(१) मनोविज्ञान की परिभाषा—

(१) मनोविज्ञान मन तथा उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन है।

(२) क्योंकि हमारी ये मानसिक प्रक्रियाएं व्यवहार के रूप में प्रकट होती हैं, इसलिए हम मनोविज्ञान को व्यवहार का अध्ययन भी कह सकते हैं।

(३) क्योंकि हमारे व्यवहार और वातावरण में एक अटूट सम्बन्ध है, इसलिए वातावरण से पैदा हुए उत्तेजकों और वातावरण में होने वाली प्रतिक्रियाओं का अध्ययन व्यवहार के अध्ययन के लिए जरूरी है। हमारा व्यवहार वातावरण में होता है। मनोविज्ञान के लिए इसका अध्ययन जरूरी है। (पृ० २)

(२) विज्ञान किसे कहते हैं—

'किसी विशेष क्षेत्र-सम्बन्धी व्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहा जाता है।' "विज्ञान तीन प्रश्नों का उत्तर देता है—क्या? क्यों और कैसे।" (पृ० ३)

'मनोविज्ञान एक विज्ञान है, जिसका अपना एक विषय—मन का अध्ययन है और जो कुछ वैज्ञानिक विधियों का सहारा लेकर अपने विषय-की व्याख्या करता है! "यह मन की सत्ता को विना सिद्ध किए स्वीकार करता है।" (पृ० ५)

(३) मनोविज्ञान का विषयक्षेत्र—

'मनोविज्ञान का उद्देश्य मन और उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन है।' 'मनोविज्ञान साधारण तथा असाधारण दोनों तरह की मानसिक

प्रक्रियाओं का अध्ययन कराता है। मनोविज्ञान में हम मानसिक विकास का भी अध्ययन करते हैं।' (पृ० ६-७)

'उसके (बच्चे के) मन में बीज रूप में बहुत सारी प्रवृत्तियां हैं, परन्तु वे धीरे-धीरे विकास में आती हैं। ज्यों-ज्यों वह आयु में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका व्यवहार पहले से ज्यादा जटिल बनता जाता है। मनोविज्ञान इन सारी अवस्थाओं का अध्ययन कराता है।'

'शरीर और मन का आपसी सम्बन्ध बहुत गहरा है। यदि मन अपनी किसी इच्छा को पूरा करना चाहता है तो वह इच्छा कुछ शारीरिक क्रियाओं के रूप में प्रकट होती है। इसी तरह जब कोई उत्तेजक बाहरी दुनिया से हमारी किसी ज्ञानेन्द्रिय पर क्रिया करता है, तो मन को उसका तुरन्त ज्ञान हो जाता है। मन तथा इसकी प्रक्रियाओं का ठीक तरह अध्ययन करने के लिए हमें साथ-साथ अपने शरीर की क्रियाओं का भी ज्ञान होना चाहिए।' (पृ० ७)

'वैयक्तिक-मन का अध्ययन करने के अलावा मनोविज्ञान **समाज-मन** की समस्याओं पर भी अध्ययन करता है।' हर समाज की कुछ संस्थाएँ होती हैं।' 'मनोविज्ञान जनमत, सामाजिक संस्थाओं, रीतिरिवाज, धार्मिक तथा सामाजिक इतिहास, भाषादि का अध्ययन कराता है। (पृ० ८)

मनोविज्ञान के भेद—'सामान्य मनोविज्ञान, असाधारण मनोविज्ञान, जन्तु-मनोविज्ञान, बालमनोविज्ञान, परीक्षणात्मक मनोविज्ञान तथा व्यावहारिक मनोविज्ञान'। (पृ० ८-१०)

(४) मन और व्यवहार—

हमारा मन कोई ऐसी चीज नहीं, जिसको आंखों द्वारा देखा जा सके या हाथों द्वारा छुआ जा सके।' 'व्यवहार मानसिक जीवन का बाहरी रूप है। यदि मन और व्यवहार का अलग-अलग अध्ययन किया जाए तो मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत छोटा हो जाता है।' **मन या चेतना को जानना ही असम्भव है** फिर हम इसकी क्या परिभाषा कर सकते हैं।' 'चेतना या मन के चक्कर में पड़कर सिद्धान्तों की रचना करते रहना भी बेकार है। प्राणी के बाहरी व्यवहार को ही हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। इसलिए **मनोविज्ञान को व्यवहार का अध्ययन** कहना ही कुछ लाभदायक है।' 'यह मत जे० बी० वाट्सन नामी एक अमरीकन विद्वान् ने थोड़े समय पहले पेश किया है।'' (पृ० ११)

'इस मत को सब विद्वानों द्वारा स्वीकार न करने का बड़ा कारण यह है कि इसमें **मन के लिए कोई स्थान नहीं है।**' व्यवहार तो हमारे मन का बाहरी रूप होता है, इसके पीछे जो **मानसिक शक्ति है, वह भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि हमारा व्यवहार।**' (पृ० ११)

मन का ज्ञान कैसे होता है—

मन हमारी ज्ञानेन्द्रियों से दूर है।—संसार की चीजों को हम देख सकते हैं और छू सकते हैं, परन्तु मन को न हम देख सकते हैं और न ही छू सकते हैं। इसलिए इसका **ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे पास एक ही साधन है—अन्तर्दृष्टि।**'(पृ० १२)

'बच्चे, पागल, मूर्ख तथा पशु इस विधि को काम में नहीं ला सकते। उनका मन इतना विकसित नहीं होता।'······केवल समझदार बड़ी आयु वाले लोग ही इस विधि का प्रयोग कर सकते हैं।' (पृ० १३)

व्यवहारवादी अन्तःप्रेक्षण को एक उपयोगी विधि न मानने का एक कारण यह बताते हैं कि इस काम में जुटे सब लोग अलग-अलग परिणामों पर पहुँचते हैं। उनके परिणाम कई बार आपस में मिलते-जुलते भी नहीं।' (पृ० १४)

'व्यवहारवादियों के लिए तो अन्तःप्रेक्षण का नाम ही हव्वा है।' (पृ० १५)

(५) शरीर-विज्ञान का मनोविज्ञान के साथ अटूट सम्बन्ध—

मन को पूरी तरह समझने के लिए शरीर के कुछ भागों का अध्ययन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा जरूरी है।

(१) **केन्द्रीय स्नायु-मण्डल**—स्नायु मण्डल को दो विभागों में बांटा जा सकता है—केन्द्रीय स्नायु-मण्डल और स्वतन्त्र स्नायु मण्डल। स्वतन्त्र स्नायु-मण्डल में स्नायु सूत्र पाये जाते हैं जो केन्द्रीय स्नायु-मण्डल को ज्ञानेन्द्रियों से मिलाते हैं।

मस्तिष्क—केन्द्रीय स्नायुमण्डल का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है, यह खोपड़ी के भीतर बड़ी अच्छी तरह सुरक्षित होता है। इसके मुख्य तीन भाग हैं—(१) बड़ा मस्तिष्क (२) छोटा मस्तिष्क और (३) सुषुम्णा-शीर्षक।

बड़ा मस्तिष्क—यह भाग मस्तिष्क का सबसे बड़ा भाग है और खोपड़ी के ऊपरी भाग में स्थित है। लम्बाई के रुख यह एक दरार द्वारा दो बराबर

भागों में बँटा है जो गोलार्ध आकृति के हैं। ।......इस मस्तिष्क का दायां भाग शरीर के बाँएं अंग को संचालित करता है और बायाँ भाग दाएँ अंग को। यह दो प्रकार के पदार्थों का बना है—भूरा तथा सफेद।

मस्तिष्क के इस भाग में बोध केन्द्र तथा कर्म क्षेत्र भिन्न २ भागों में पाए जाते हैं। यह परीक्षण द्वारा देखा गया है कि यदि श्रवण-केन्द्र को उत्तेजित कर दिया जाए तो व्यक्ति को आवाज सुनाई पड़ने लगती है, यदि दृष्टि केन्द्र को उत्तेजित कर दिया जाय तो वह प्रकाश देखता है और यदि कर्म क्षेत्र को उत्तेजित कर दिया जाय तो वह हाथ पैर हिलाने लगता है।

छोटा मस्तिष्क—यह बड़े मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित है। वैसे तो इसका क्षेत्र बड़े मस्तिष्क के क्षेत्र से बहुत थोड़ा है, परन्तु इसकी क्रियाएँ हमारे जीवन के लिए बड़ा महत्त्व रखती हैं। इसी से शरीर में भिन्न २ गतियाँ होती हैं। हमारी बहुत सी ऐसी शारीरिक क्रियाएँ हैं, जिन में मांसपेशियाँ काम करती हैं, जैसे दौड़ना, चलना, बोलना, गाना, तैरना आदि। इन मांसपेशियों की गतियों को जोड़ना, उन पर नियंत्रण रखना और हमारी इस प्रकार की क्रियाओं की गति को आसान करना छोटे मस्तिष्क का काम है।...जब किसी व्यक्ति के छोटे मस्तिष्क में किसी प्रकार का विकार हो जाता है, तो वह अपते शारीरिक-सन्तुलन को खो बैठता है।

सुषुम्णा शीर्षक—यह छोटे मस्तिष्क के ठीक नीचे स्थित है। वास्तव में यह सुषुम्णा का उभरा हुआ भाग है, जो सुषुम्णा को मस्तिष्क से मिलाता है। जितने स्नायु सूत्र सुषुम्णा से निकल कर मस्तिष्क की ओर जाते हैं, वे सभी सुषुम्णा शीर्षक को लांघकर जाते हैं। इनका काम हृदय की धड़कन रक्त संचार तथा पाचनक्रिया का संचालन करते रहना है। यदि इसका ऊपरी भाग किसी चोट लगने से विकार ग्रस्त हो जाए, तो मस्तिष्क और दूसरी शारीरिक क्रियाओं का सम्बन्ध टूट जाता है। ......यदि इसका नीचे का भाग चोट के कारण खराब हो जाए, तो दिल और फेफड़े अपना काम बन्द कर डालते हैं और इस प्रकार श्वास-क्रिया तथा रक्त सञ्चार के बन्द होने पर व्यक्ति का जीवन समाप्त हो जाता है।

सुषुम्णा—हमारे शरीर के भिन्न २ भागों में जो स्नायु सूत्र मस्तिष्क को जाते हैं, वे पीठ की हड्डी से जुड़े होते हैं। इस हड्डी के लम्बे तार को

(देखें पृष्ठ १४७)

वैदिक मनोविज्ञान

—राजवीर शास्त्री

वेद में मनोविज्ञान—

वेद में सब सत्यविद्याएं हैं, अतः मन के विषय में भी वेदों में इतनी सारगर्भित तथा मौलिक चर्चा है, जिसको स्वयं अनुभवी व्यक्ति ही अधिक समझ सकते हैं। यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के प्रथम ६ मन्त्रों में मन के विषय में विशेष गम्भीरता से विचार किया गया है। इन मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय=देवता 'मन' है। आधुनिक-युग में वेदों के पुनरुद्धारक महर्षि दयानन्द परम-योगी होने से मन आदि तत्त्वों के जहां विशेषज्ञ थे, वहां वेदों के अद्‌भुत भाष्यकार भी थे। उन्होंने इन मन्त्रों में विद्यमान मनोविज्ञान का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, यह दर्शनीय ही है।

इन मन्त्रों के अर्थों का 'शिवसंकल्प' ऋषि ने सर्व प्रथम साक्षात्कार किया है। महर्षि दयानन्द ने इन छः मन्त्रों के विषय का वर्णन करते हुए लिखा है—

'अथ मनसो वशीकरणविषयमाह'

अर्थात् अब मन को वश में करने के विषय का वर्णन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मन के स्वरूपादि ज्ञान के बिना उसका वशीकरण भी सम्भव नहीं है।

प्रथम मन्त्र का महर्षि कृत अर्थ—

ओम् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० ३४। १)

अर्थः—हे जगदीश्वर विद्वन् वा! भवदनुग्रहेण (यत्) (दैवम्) देव आत्मनि भवं देवस्य जीवात्मनः साधनमिति वा (दूरङ्गमम्) यद्दूरं गच्छति गमयति वाऽनेक-पदार्थान् गृह्णाति तत् (ज्योतिषां ज्योतिः) शब्दादिविषयप्रकाशकानामिन्द्रियाणां प्रकाशकं प्रवर्त्तकम् 'आत्मा मनसा संयुज्यते न इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति महर्षि वात्स्यायनोक्तेः' (एकम्) असहायम्

(जाग्रतः) (दूरम्) (उदैति) उद् गच्छति। (तत्) यत् (उ) (सुप्तस्य) शयानस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण (एति) अन्तर्गच्छति (तत्) (मे) मम (मनः) संकल्पविकल्पात्मकम् (शिवसंकल्पम्) शिवः=कल्याणकारी धर्मविषयः संकल्प इच्छा यस्य तत् (अस्तु) भवतु।

भाषार्थ--हे जगदीश्वर वा विद्वन्! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने वाला अथवा जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर-दूर जाता है, या मनुष्यों को दूर-दूर ले जाता है या अनेक पदार्थों को ग्रहण करने वाला है, (ज्योतिषां ज्योतिः) शब्दादि विषयों की प्रकाशक श्रोतादि इन्द्रियों को प्रवृत्त करने हारा है, (एकम्) एक है, (जाग्रतः) जागृत अवस्था में (दूरम्) दूर-दूर (उदैति) भागता है, (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) जो सोते हुए का (तथैव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है। (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) संकल्पविकल्पात्मक मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी धर्मविषयक इच्छा वाला (अस्तु) होवे।

इस मन्त्र के भावार्थ में मन के विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

'अनेकविधसामर्थ्ययुक्तं मनः शुद्धं सम्पादयन्ति यज्जागृतावस्थायां विस्तृतव्यवहारं तत् सुषुप्तौ शान्तं भवति, यद् वेगवतां वेगवत्तरं ज्ञानस्य साधकत्वाद् इन्द्रियाणामपि प्रवर्त्तकम् ०।'

अर्थात् मन अनेकविध सामर्थ्य से युक्त है। यह जागृत-दशा में अपने व्यवहार को विस्तृत कर लेता है और सुप्तावस्था में शान्त हो जाता है। यह वेगवाले पदार्थों में अतिवेगवान् है, ज्ञान के साधनभूत इन्द्रियों को प्रवृत्त कराने वाला है।

विशेष—उपर्युक्त महर्षि के मन्त्रभाष्य से मन के विषय में निम्न बातों का स्पष्टीकरण होता है—

(१) इस शरीर में मन एक है।

(२) मन का स्थान आत्मा के समीप है, और यह आत्मा का साधन है।

(३) मन जागृत दशा में दूर-दूर भागता है और प्रसुप्तावस्था में शान्त हो जाता है अर्थात् वाह्य विषयों से सम्पर्क नहीं करता।

(४) यह मन ज्ञानेन्द्रियों को प्रवृत्त कराने वाला है। अर्थात् ज्ञान का साधन है।

(५) मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है।

(६) यह अनेकविध सामर्थ्यवाला और अत्यधिक वेग वाला है।

(७) मन शरीर से बाहर कदापि नहीं जाता। महर्षि दयानन्द ने इस बात का स्पष्ट निर्देश 'दैवम्=आत्मनि भवं जीवात्मनः साधनं वा' कह कर किया है। जो मन आत्मा के आश्रय से रहता है अथवा उसका साधन है, वह जड़ मन बिना आत्मा के शरीर से कैसे जा सकता है?

इस मन्त्र का महर्षि स० प्र० (स० समु०) में अर्थ इस प्रकार करते हैं—

"हे दयानिधे! आपकी कृपा से जो मेरा मन जागते में दूर-दूर जाता, दिव्य गुण युक्त रहता है, और वही सोते हुये मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन शिवसङ्कल्प अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करने हारा होवे, किसी की हानि करने की इच्छा-युक्त कभी न होवे।"

दूसरे मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ—

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(यजु० ३४। २)

अर्थः—हे परमेश्वर विद्वन् वा! भवत्सङ्गेन (येन) मनसा (अपसः) अपः कर्म तद्वन्तः सदा कर्मनिष्ठाः (मनीषिणः) मनस ईषिणो दमनकर्त्तारः (धीराः) ध्यानवन्तो मेधाविनः (यज्ञे) अग्निहोत्रादौ धर्मेण संगतव्यवहारे योगाभ्यासे वा (विदथेषु च) विज्ञान-युद्धादिव्यवहारेषु (कर्माणि) कर्तुरीप्सिततमानि क्रियमाणानि (कृण्वन्ति) कुर्वन्ति (यद्) (अपूर्वम्) अनुत्तम-गुणकर्मस्वभावम् (प्रजानाम्) प्राणिमात्राणाम् (अन्तरे) मध्ये (यक्षम्) पूजनीयंसंगतं वा वर्तते, (तत्) (मे) मम (मनः) मननविचारात्मकम् (शिवसंकल्पम्) धर्मेष्टम् (अस्तु)।

भावार्थ—हे परमेश्वर या विद्वन्! आपके संग से (येन) जिस मन से (अपसः) सदा कर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मन का दमन करने वाले (धीराः) ध्यान करने वाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि या धर्मयुक्त व्यवहार या योगाभ्यास रूप यज्ञ में और (विदथेषु) विज्ञान-सम्बन्धी और युद्धादि

व्यवहारों में (कर्माणि) अत्यन्त इष्ट कर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो मन (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुण-कर्म स्वभाव वाला (प्रजानाम्) प्राणिमात्र के (अन्तः) भीतर हृदय में (यक्षम्) पूजनीय या संगत=एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मनन या विचार करने वाला मन (शिवसंकल्पम्) धर्मेष्ट (अस्तु) होवे।

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि ने 'अन्तःकरण' को मन का पर्यायवाची मानकर प्रयोग किया है। और उसको वश में करने के परमेश्वर की उपासना, सुविचार, विद्या और सत्संग, ये चार साधन बताए हैं।

विशेष–(१) मन सर्वविध कर्मों का साधन है।

(२) मन सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव वाला होने से अपूर्व है।

(३) यह मन सब प्राणियों के हृदय में रहता है।

(४) मनुष्य मनन या विचार मन से ही करता है।

(५) मन अपूर्व सामर्थ्य वाला है।

इस मन्त्र का महर्षि ने स० प्र० (स० समु०) में अर्थ इस प्रकार किया है—

"हे सर्वान्तर्यामी! जिससे कर्म करने हारा धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व सामर्थ्य युक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे॥"

तृतीय मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(यजु० ३४।३।)

अर्थः—हे जगदीश्वर परमयोगिन् विद्वन् वा! भवज् ज्ञापनेन (यत्) (प्रज्ञानम्) प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूपम् (उत) अपि (चेतः) चेतति स्मरति येन तत् (धृतिः) धैर्यस्वरूपम् (च) चकाराल्लज्जादीन्यपि कर्माणि येन क्रियन्ते। (प्रजासु) जनेषु (अन्तः) अभ्यन्तरे (अमृतम्) नाशरहितम् (ज्योतिः) द्योतमानम् (यस्माद्) मनसः (ऋते) विना (किम्) (चन) किञ्चिदपि (कर्म) (न, क्रियते) (तत्) (मे) जीवात्मनो मम (मनः)

सर्वकर्मसाधनम् (शिवसंकल्पम्) शिवे=कल्याणकरे परमात्मनि कल्पः= इच्छाऽस्य तत् (अस्तु) भवतु।

भाषार्थ—हे जगदीश्वर वा परमयोगिन् विद्वन्! आपके बताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेषकर ज्ञान का साधन बुद्धिरूप (उत) और (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्यस्वरूप (च) और लज्जादि कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) भीतर (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप, (यस्मात्) जिसके (ऋते) विना (किम्, चन) कोई भी (कर्म) कार्य (न क्रियते) नहीं किया जाता (तत्) वह (मे) मुझे जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधन रूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला (अस्तु) होवे।

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि ने मन्त्र के आश्रय से एक विशेष बात समझाते हुए लिखा है—'अन्तःकरणं बुद्धिचित्तमनोऽहंकारवृत्तित्वा-च्चतुर्विधमन्तः प्रकाशं प्रजानां सर्वकर्मसाधकं नाशरहितं मनोऽस्ति।' अर्थात् अन्तःकरण चतुर्विधवृत्ति वाला है—बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार। यह चतुर्विध भीतर प्रकाश करने वाला प्राणियों के सब कार्यों का साधक अविनाशी मन है।

विशेष—(१) मन की ही चार प्रकार की वृत्तियाँ हैं—बुद्धि=जानना (निश्चय करना), चेतः=स्मरण करना, मनः=मनन करना, और अहंकार करना। जिससे स्पष्ट है 'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' अर्थ वाली बुद्धि मनकी ही एक वृत्ति है। और जहाँ इसे साधन न मानकर ज्ञान का पर्यायवाची माना है, वह आत्मा का गुण है।

(२) मन शरीरादि के साथ नष्ट नहीं होता, अतः यह अमृत है।

(३) मन के विना कोई कार्य नहीं हो सकता।

इस मन्त्र का महर्षि ने स० प्र० (स० समु०) में अर्थ इस प्रकार किया है—

"जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चिताने हारा, निश्चयात्मक वृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाश युक्त और नाश रहित है, जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुद्धगुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे॥"

चतुर्थ मन्त्र का महर्षि कृत अर्थ—

येनेदं भूतं भुवनम्भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

यजु० ३४ । ४ ॥

अर्थः—हे मनुष्याः ! (येन) मनसा (अमृतेन) नाशरहितेन परमात्मना सह युक्तेन (भूतम्) अतीतम्, (भुवनम्) भवतीति भुवनम् । वर्त्तमानकालस्य सम्बन्धि (भविष्यत्) यदुत्पत्स्यमानं भावि (सर्वम्) समग्रम् (इदम्) वस्तुजातम् (परिगृहीतम्) परितः सर्वतो गृहीतं ज्ञातम् भवति । (येन) (सप्तहोता) अग्निष्टोमेऽपि सप्तहोतारो भवन्ति (यज्ञः) अग्निष्टोमादिर्विज्ञानमयो व्यवहारो वा (तायते) तन्यते विस्तीर्यते (तत्) (मे) मम (मनः) योगयुक्तं चित्तम् (शिवसंकल्पम्) शिवो मोक्षरूपसंकल्पो यस्य तत् (अस्तु) भवतु ।।४।।

भावार्थ—हे मनुष्यो ! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होने वाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ (भुवनम्) वर्त्तमान-काल सम्बन्धी और (भविष्यत्) आगे होने वाला (सर्वमिदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत अर्थात् जाना जाता है (येन) जिस से (सप्तहोता) अग्निष्टोम के तुल्य सप्त-होताओं वाला (पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा) (यज्ञः) अग्निष्टोमादि अथवा विज्ञान-मय व्यवहार (तायते) विस्तृत किया जाता है । (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) योगयुक्त-चित्त (शिव-संकल्पम्) शिव=मोक्षरूप संकल्प वाला (अस्तु) होवे ।। ४ ।।

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं कि—यह चित्त योगाभ्यास के साधनों व उपसाधनों से सिद्ध होकर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान को जानने वाला, सब सृष्टि को जानने वाला, कर्म, उपासना और ज्ञान का साधक है ।

इस मन्त्र का स० प्र० स० समु० में अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं—"योगी मन को योग विज्ञानयुक्त करके तीनों कालों के व्यवहारों को जान लेते हैं, यह मन नाशरहित आत्मा को परमात्मा के सम्पर्क से त्रिकालज्ञ करता है । मन में ज्ञान और क्रिया है । यह मन ५ ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा से युक्त रहता है । मन से योगरूप यज्ञ को बढ़ाते हैं ।"

विशेष—(१) योगाभ्यासादि के द्वारा मन के संयम से परमेश्वर के साथ योग होता है ।

(२) मन योगाभ्यासादि के द्वारा तीनों कालों के व्यवहारों का ज्ञान कराता है।
(३) मन अग्निष्टोमादि यज्ञों, योगयज्ञों, विज्ञानों तथा व्यवहारों का साधन है।
(४) मन के सप्तहोता (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा आत्मा) हैं।

पञ्चम मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ—

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
य० ३४। ५॥

अर्थः—(रथनाभाविव) यथा रथस्य=रथचक्रस्य मध्यमे काष्ठे सर्वे ऽवयवा लग्ना भवन्ति, (अराः) रथचक्रावयवाः तथा (यस्मिन्) मनसि (ऋचः) ऋग्वेदः, (साम) सामवेदः (यजूंषि) यजुर्वेदः (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठितानि (यस्मिन्) मनसि अथर्वाणः प्रतिष्ठिता भवन्ति, (यस्मिन्) मनसि (प्रजानाम्) (सर्वम्) समग्रं (चित्तम्) सर्वपदार्थविषयिज्ञानम् (ओतम्) सूत्रे मणिगणा इव प्रोतम् अस्ति। (तत्) (मे) मम (मनः) (शिवसंकल्पम्) शिवः=कल्याणकरो वेदादिसत्यशास्त्रप्रचारसंकल्पो यस्मिँस्तत् (अस्तु) भवतु ॥ ५ ॥

भावार्थ—(रथनाभाविव) जैसे रथ=रथचक्र के मध्यम काष्ठ में सब अवयव लगे होते हैं, उन (अराः) रथचक्र के अरों के समान (यस्मिन्) जिस मन में (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद और (यजूंषि) यजुर्वेद (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठित हैं, और जिसमें अथर्ववेद के मन्त्र प्रतिष्ठित होते हैं, और (यस्मिन्) जिस मन में (प्रजानाम्) प्रजा का (सर्वम्) सब (चित्तम्) सब पदार्थ विषयक ज्ञान (ओतम्) सूत्र में मणि-गण के तुल्य पिरोया हुआ है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) शिव=कल्याणकारी वेदादि सत्य-शास्त्र के प्रचार का संकल्प रखने वाला (अस्तु) होवे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं कि "मन के स्वस्थ रहने पर ही वेदादि पठन-पाठन का व्यवहार सम्भव है। वह मन ही वेदादि विद्या को धारण करने वाला है। अन्तःकरण में सब व्यवहारों का ज्ञान संचित होता है।"

इसी मन्त्र का सत्यार्थ-प्रकाश (स० समु०) में अर्थ करते हुए महर्षि

लिखते हैं—'हे परम विद्वन् परमेश्वर ! आप की कृपा से मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरी में आरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है और जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त=चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे।'

विशेष—(१) मन में वेदादि का सर्वविधि ज्ञान प्रतिष्ठित है।

(२) शुद्ध मन से ही परमेश्वर का ज्ञान होता है।

(३) मन में ही जन्म-जन्मान्तरों का संचित ज्ञान तथा वासनाएं रहती हैं।

षष्ठ मन्त्र का महर्षि-कृत अर्थ—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० । ३४ । ६ ॥

अर्थः—(यत्) (सुषारथिः) शोभनश्चासौ सारथिर्यानिचालयिता, तथा (अश्वानिव) (मनुष्यान्) मनुष्यग्रहणमुपलक्षकं प्राणिमात्रस्य (नेनीयते) भृशमितस्ततो नयति=गमयति (अभीशुभिः) रश्मिभिः (वाजिन इव) सुशिक्षितानश्वानिव नियच्छति च, बलात् सारथिरश्वानिव प्राणिनो नयति, (यत्) (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदि प्रतिष्ठा=स्थितिर्यस्य तत् (अजिरम्) विषयादिषु प्रक्षेपकं जराद्यवस्थारहितं वा (जविष्ठम्) अतिशयेन वेगवत्तरम् अस्ति, (तत्) (मे) मम (मनः) (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गलनियमेष्टम् (अस्तु) भवतु ॥ ६ ॥

भावार्थ—(यत्) जो (सुषारथिरश्वानिव) जैसे उत्तम सारथि घोड़ों को चलाता है, वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यों अर्थात् प्राणिमात्र को (नेनीयते) अत्यन्त इधर-उधर ले जाता है, और (अभीशुभिः) रस्सियों से (वाजिन इव) सुशिक्षित घोड़ों के समान (नियच्छति) वश में करता है। बल से जैसे सारथि घोड़ों को ले जाता है, वैसे प्राणियों को चलाता है। (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में फेंकने वाला अथवा जरादि अवस्था से रहित है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसङ्कल्पम्) मङ्गल नियमों से प्रेम करने वाला (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं—"जहाँ आसक्त हो गया,

वहीं जैसे लगामों के द्वारा सारथि घोड़ों को वश में करता है, वैसे वश में करने वाला है, सब अविद्वान् जिसके पीछे चलते हैं और विद्वान् जिसे अपने वश में रखते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी है और अशुद्ध हुआ दुःखकारी है, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को प्रदान करता है, उस मन को मनुष्य अपने वश में सदा रक्खें।"

इस मन्त्र का महर्षि ने सत्यार्थ-प्रकाश (स० समु०) में अर्थ इस प्रकार किया है—"हे सर्वनियन्ता परमेश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथि के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान्, और अत्यन्त वेग वाला है। वह सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्म-पथ में सदा चलाया करे। ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए।"

विशेष—(१) मन मनुष्यों को ही नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्र का साधन है।
(२) मन का स्थान आत्मा के समीप हृदय में है।
(३) मन अत्यन्त वेग वाला है।
(४) मन जरा (बुढ़ापा) आदि दशाओं से रहित है।
(५) इन्द्रियाँ मन के नियन्त्रण में कार्य करती हैं। योगाभ्यासादि के द्वारा मन के संयम से इन्द्रियों को धर्माचरण में प्रवृत कराया जा सकता है।

(६) मन को रथ के घोड़ों की तरह अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है।

वेदों में 'मनस्' शब्द के महर्षि कृत अर्थ—

मनसः = संकल्प-विकल्पात्मकात्। य० १८। ५८॥
,, मननशीलात् सामर्थ्यात्। य० ३१। १२॥
,, अन्तःकरणपुरुषार्थात्। ऋ० ७। ३३। ११॥
,, विज्ञानात्। य० ४। ६॥
,, संकल्प-विकल्पादिवृत्तियुक्तस्यान्तःकरणस्य। य० ३७। १८॥
,, मननशीलाद् वेगवत्तरात्। ऋ० १। ११७। २॥
,, चित्तस्य। ऋ० १। ७६। १॥

मनसा = मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वे व्यवहारा येनाऽन्तःकरणेन। य० २। २४॥
,, शुद्धान्तःकरणेन। य० १७। ९४॥

मनसा = सुविचारेण । य० ७ ।२६ ॥
,, विज्ञानवता चित्तेन । य० १३ । १८ ॥
,, भावेन । य० । ३४ । २३ ॥
,, स्वान्तेन । ऋ० १ । ६६ । ८ ॥
,, विज्ञानेनेश्वरध्यानेन वा ऋ० भू० २५२ । य० १६ । ३६ ॥
,, प्रज्ञया । ऋ० १ । १३८ । २ ॥
,, शिल्पादिविचारेण । ऋ० १ । ६१ । २३ ॥
मनसे = विज्ञानवृद्धये । य० ४ । ७ ॥
,, विज्ञानवतेऽन्तःकरणाय ।य० ३७ । १६ ॥
,, सदसन्मननाय । य० ६ ।२५ ॥
,, मनननिमित्ताय संकल्प-विकल्पात्मने । य० २२ । २३ ॥
,, मननशीलस्य (सज्जनाय) ऋ० ६ । २१ । ४ ॥
मन: = मननात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः । य० ११ । १ ॥
,, अन्तःकरणस्याहंकारादिवृत्तिम् । य० ३ । ५६ ॥
,, योगमननम् । य० ७ । ६ ॥
,, मननशीलं ज्ञानसाधनम् । य० २ । १३ ॥
,, संकल्प-विकल्पात्मकम् । य० ३७ । २ ॥
,, मननात्मकं चित्तम् । ऋ० ६ । १६ । १७ ॥
,, ज्ञानसाधनमन्तःकरणम् । य० १८ । ४३ ॥
,, धारणावतीं बुद्धिम् । य० ३ । ५५ ॥
,, शुद्धं विज्ञानम् । य० ७ । ३ ॥
,, मननशीलं प्रेरकं कर्म । य० १३ । ५५ ॥
,, इच्छासाधनम् । य० ११ । ६६ ॥
,, स्वान्तम् । य० ६ । ७ ॥
,, सर्वकर्मसाधनम् । ३४ । ३ ॥
,, संकल्पोऽभिलाषेच्छादि, विकल्पोऽप्रीतिद्वेषादितदात्मकम् । (ऋ० ८ । ८ । ४६ । ३), (ऋ० भू० ६३ पृ०)
,, स्मरणात्मकं चित्तम् । य० ३ । ५४ ॥
मनांसि= अन्तःकरणानि । ऋ० ७ । ५६ । ८ ॥

ब्राह्मणग्रन्थों में मनोविज्ञान

शतपथब्राह्मणम्—

(१) मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ । श० ८ । १ । १ । ७ ॥

(२) मनो ह वाऽअस्य सविता । श० ४ । ४ । १ । ७ ॥

(३) कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी-रित्येतत्—

(४) सर्वं मन एव । श० १४ । ४ । ३ । ६ ॥

(५) नैव हि सन्मनो नैवासत् । श० १० । ५ । ३ । २ ॥

(६) अनिरुक्तं हि मनो अनिरुक्तं ह्येतद् यत् तूष्णीम् ॥
श० १ । ४ । ४ । ५ ॥

(७) अपरिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि वाक् ।
श० १ । ४ । ४ । ७ ॥

(८) अनन्तं वै मनः । श० १४ । ६ । १ । ११ ॥

(९) बृषा हि मनः । श० १ । ४ । ४ । ३ ॥

(१०) वाग् वै मनसो ह्लसीयसी । श० १ । ४ । ४ । ७ ॥

(११) न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम् ।
श० ६ । ३ । १ । १४ ॥

(१२) अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव ।

(१३) पश्यति मनसा शृणोति । श० १४ । ४ । ३ । ८ ॥

(१४) मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः । श० । ७ । ५ । २ । ६ ॥

(१५) मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥
श० १४ । ३ । २ । ३ ॥

(१६) मनसि हृदयमात्मा प्रतिष्ठितः । ६ । ७ । १ । २१ ॥

(१७) मनो वाऽध्वर्युः । श० । १ । ५ । १ । २१ ॥

(१८) मनो वै देववाहनं मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते ।
श० १ । ४ । ३ । ६ ॥

ऐतरेय ब्राह्मणम्—

(१९) वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् । ऐ० ५ । २३ ॥

(२०) असंप्रेषितं वा इदं मनः । ऐ० ६ । २ ॥

कौषीतकिब्राह्मणम्—

(२१) मनः सावित्रम् । कौ० १६ । ४ ॥

(२२) वाक् च वै मनश्च हविर्धाने । कौ० ९ । ३ ॥

गोपथब्राह्मणम्

(२३) यन्मनः स इन्द्रः । गो० उ० ४ । ११ ॥
(२४) मनो देवः । गो० पू० २ । १० ॥

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणम्—

(२५) मनः प्रगाथः । जै० उ० ३४ । ३ ॥
(२६) स एष हृदः कामनापूर्णो यन्मन्नः । जै० उ० १ । ५८ ॥
(२७) तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक् । जै० उ० १ । ५८ । ३ ॥
(२८) वागिति मनः जै० उ० ४ । २२ । ११ ॥
(२९) वाचो मनो देवता मनसः पशवः । जै ० उ० १ । ५९ । १४ ॥
(३०) मनो वाव साम्नश्श्रीः । जै० उ० १ । ३९ । २ ॥
(३१) तयोर्यत् सत् तत् साम तन्मनस्स प्राणः ।
जै० उ० १ । ५३ । २ ॥
(३२) मनश्चन्द्रमाः । जै० उ० ३ । २ । ६ ॥

ताण्ड्यब्राह्मणम्—

(३३) वाग् वै समुद्रो मनः समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः । ता० ६।४।७ ॥
(३४) मनो हि पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति ।
तां० १ । ११ । ३ ॥

षड्विंशब्राह्मणम्—

(३५) अर्द्धभाग् वै मनः प्राणानाम् । ष० १ । ५ ॥

तैत्तिरीयब्राह्मणम्—

(३६) मनो हृदये (श्रितम्) । तै० ३ । १० । ८ । ६ ॥
(३७) चन्द्रमा मनसि श्रितः । तै० ३ । १० । ८ । ५ ॥

शतपथादि ब्राह्मणग्रन्थ प्राचीन महर्षिकृत वेदों के व्याख्या-ग्रन्थ हैं। उन्होंने 'मनस्' शब्द के जो-जो अर्थ किए हैं, वे यहाँ यथार्थरूप में दिखाए गए हैं। जिससे विद्वान् पाठक इन प्राचीन अर्थों से भी लाभान्वित हो सकें।

उपनिषदों में मनोविज्ञान

आध्यात्मिक क्षेत्र में उपनिषदों का प्रमुख स्थान है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने निरन्तर अभ्यास तथा तपस्या से जिस ज्ञान को साक्षात् किया और अनुभव किया, उसका संग्रह उपनिषदों में किया गया है। प्रस्तुत मन के विषय में भी उनका ज्ञान अद्भुत तथा अतीव महत्त्वपूर्ण है।

(१) मन से ब्रह्म नहीं जाना जाता—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ॥ साम० तवलका० १ । ५ ॥

वह ब्रह्म मन (अन्तःकरण) से विचारा नहीं जाता। किन्तु ब्रह्म की उपासनादि से मन आदि का भी ज्ञान होता है।

(२) मन शरीररूपी आत्मा के रथ में प्रग्रह (लगाम) है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ कठोप० ३ । ३ ॥

यह आत्मा शरीररूपी रथ का स्वामी है, शरीर रथ है। बुद्धि सारथी है और मन प्रग्रह (लगाम की रस्सी) है।

(३) मनादि से युक्त होकर ही आत्मा भोक्ता कहलाता है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ कठोप० ३ । ४ ॥

अर्थात् आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मनयुक्त होकर ही भोक्ता कहलाता है।

(४) मन के संयम से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ (कठोप० ३ । ६)

जो विवेकी अभ्यास व वैराग्य से मन को वश में कर लेता है, उसकी इन्द्रियां वैसे ही वश में हो जाती हैं, जैसे सारथी के सुशिक्षित घोड़े वश में रहते हैं।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ कठोप० ३ । ९ ॥

जिसका सारथी शुद्ध बुद्धि है, और मन रूपी प्रग्रह (लगाम) जिसके

वश में है ?, वह ब्रह्म के परम पद को प्राप्त करता है।

(५) मन कितना सूक्ष्म है ?

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ।। कठोप० ३ । १० ।।

अर्थात् इन्द्रियों से सूक्ष्म अर्थ=गन्धतन्मात्रादि विषय हैं और अर्थ= विषयों से सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से आत्मा=महत्तत्त्व सूक्ष्म है।

(६) मन से इन्द्रियों का संयम करे—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञः ।। कठोप० ३ । १३ ।।

संयत-बुद्धि पुरुष मन से वाणी आदि इन्द्रियों का संयम करे।

(७) मन का अर्थ बुद्धि—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।। कठोप० ४ । ११ ।।

यह ब्रह्म सूक्ष्म बुद्धि से ही प्राप्त करने योग्य है।

(८) सूक्ष्म शरीर, जिसमें मन भी है, उसके सहित जीवात्मा हृदय में रहता है—

अंगुष्ठमात्रपुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।। कठोप० ४ । १२ ।।

शरीर अंगुष्ठ मात्र स्थान वाले हृदय में लिंग शरीर सहित जीवात्मा रहता है। इससे स्पष्ट है कि मन का स्थान भी हृदय है।

अंगुष्ठमात्रपुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।।
कठोप० ६ । १७ ।।

(९) मोक्ष के लिए मनादि का संयम परमावश्यक—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।। कठोप० ६ । १० ।।

जब योगाभ्यासादि से ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ चञ्चलता रहित होकर परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी ज्ञानविरुद्ध आचरण नहीं करती, उसे सर्वोत्तम दशा (मोक्ष) कहते हैं।

(१०) कामनाएँ हृदय (अन्तःकरण) में रहती हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः ।। कठोप० ६ । १४ ।।

यदा सर्वे अभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।। कठोप० ६ । १५ ।।

अर्थात् हृदय (अन्तःकरण) में स्थित कामनाएँ जब दूर हो जाती हैं, और जब हृदय (अन्तःकरण) की गांठे नष्ट हो जाती हैं, तब जीवात्मा मुक्त होता है।

(११) हृदय स्थान का वर्णन—

(क) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम् अभि निःसृतैका ।।
कठोप० । ६ । १६ ।।

हृदय स्थान में एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनके बीच में एक सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चल के मस्तक में जाती है।

(ख) हृदि ह्येष आत्मा । अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा-नाडी सहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरन्ति ।।
प्रश्नोप० ३ प्र० ६ ।।

कमल के तुल्य आकार वाले मांसपिंडरूप हृदय में यह शरीर का स्वामी आत्मा रहता है। सुश्रुत के शारीर स्थान में हृदय स्थानका वर्णन करते हुए लिखा है—नीचे मुख वाला कमल के तुल्य हृदय है, वह जागते समय खुला रहता है और सोते समय कमल के तुल्य बन्द हो जाता है।)

इसी हृदय में एक सौ एक नाडियां हैं। उनमें से एक-एक की सौ-सौ शाखाएँ (नाडियाँ) फूटती हैं। उन शाखा नाडियों में से एक २ के बहत्तर बहत्तर हजार प्रति शाखा नाडियां होती हैं। इन मूल शाखा और प्रति-शाखा रूप सब नाडियों में व्यान नामक प्राण विचरता है।

हृदय शब्द का प्रयोग प्राचीन साहित्य में 'मन' तथा 'शरीर में स्थान विशेष' दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। अतः प्रकरण को देखकर ही 'हृदय' का अर्थ करना चाहिए। अतः यहां मन के प्रसंग में उपर्युक्त स्थल भी दिखाया गया है।

(१२) निद्रावस्था में कौन सोता है और कौन जागता है ?

इस विषय में प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न पिप्पलाद ऋषि से सौर्या-यणी गार्ग्य ने प्रश्न किया कि—

'भगवन् एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर

एष देवः स्वप्नान् पश्यति, कस्यैतत् सुखं भवति, कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ (प्रशोप० चतुर्थ प्रश्न क० १)

अर्थात् हे भगवन् ! इस पुरुष के शरीर में प्राण, इन्द्रिय, मनादि में से कौन सोते और कौन जागते और कौन देव स्वप्नों को देखता है, सुख किसको होता है, और किसमें जीवात्मा पर्यन्त प्राणादि प्रतिष्ठित होते है ?

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य ! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ।। प्रश्नोप० चतुर्थ० क० २ ।।

अर्थात् जैसे सूर्य की किरणें अस्त होने पर सूर्य में इकट्ठी हो जाती हैं और फिर सूर्योदय होने पर किरणें फैल जाती हैं, वैसे ही हे गार्ग्य ! नेत्रादि इन्द्रियां अपने से सूक्ष्म प्रकाशक मन में लीन हो जाती हैं, इसी कारण निद्रा समय में पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द लेता है, न विष्ठादि का त्याग करता है और न चलता है । ऐसा होने पर पुरुष सोता है, यह व्यहवार होता है ।

इससे स्पष्ट है कि सब इन्द्रियां मन के आधीन हैं । और मन का अनुसरण करती हैं । मन के जागने पर जागती हैं और तमोग्रस्त मन के होने पर इन्द्रियाँ सोती हैं ।

इस विषय में सुश्रुत के शारीर प्रकरण में कहा है—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम् ।
तमोऽभिभूतेतस्मितु निद्रा विशति देहिनाम् ।।

अर्थात् हृदय ही आत्मा का स्थान है । और इसके तमोगुण से ग्रस्त होने पर जीवों को निद्रा आती है ।

इस शरीर में कौन जागते हैं; इसका उत्तर यह दिया है—

प्राणाग्न्य एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति ।। प्रश्नोप० ४ प्रश्न क० ३ ।।

अर्थात् इस इन्द्रिय रूप नव द्वार वाले शरीर रूप नगर में प्राण ही जागते हैं ।

कौन देव स्वप्न देखता है ? इसका उत्तर है—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति ।। प्रश्नोप० ४ प्रश्न ।।

स्वप्न काल में शरीररक्षा के लिए प्राणों के जागते हुए जीवात्मा प्रत्यक्षरूप से देखे, सुने या जाने हुए पदार्थों का संस्कारों से अनुभव करता है।

स स यदा तेजसाभिभूता भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यति ।
(प्रश्नोप० ४ प्रश्न)

जब जीवात्मा परमेश्वर के प्रकाश से अभिभूत हो जाता है, तब स्वप्नों को नहीं देखता।

(१३) मन की गणना षोडश कलाओं में की है—

प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में सोलह कलाएँ गिनाई हैं। इनके विषय में वहाँ कहा है—

१. इहैवान्तः शरीरे सोम्य ! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति।' अर्थात् इस जीवात्मा के शरीर में १६ कलाएँ ईश्वर-रचित हैं, इन्हीं से जीव कार्य करने में समर्थ होते हैं।

२. सोलह कलाऐं ये हैं—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रियां, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म लोक, और नाम हैं। इनमें मन की भी गणना की है।

३. ये सोलह कलाएँ प्रलय के समय नष्ट हो जाती हैं और मुक्त दशाओं में भी १६ कलाएँ नहीं रहतीं। अतएव कहा है—

'एषोऽकलोऽमृतो भवति ।'

अर्थात् मुक्त अवस्था जब मिल जाती है तब कलाएँ नहीं रहतीं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मन अचेतन तथा ईश्वररचित है। और मुक्ति में मन की सत्ता नहीं रहती।

(१४) मन की उत्पत्ति का वर्णन—

(१) तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ।। मुण्डको० ख० १ क० ८ ।।

अर्थात् प्रलय के पश्चात् सर्वप्रथम तप=ज्ञान से ब्रह्म ने ईक्षण किया, तदनन्तर अन्न, प्राण, मन, सत्य लोकादि की उत्पत्ति हुई। यहां मनः=

अन्तःकरण की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से मानी है।

(२) एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥

मुण्डकोप० २ ख० ३ क० ॥

अर्थात् उस परमेश्वर की प्रेरणा से प्राण, मन, (अन्तःकरण) इन्द्रियादि की उत्पत्ति हुई।

(१५) मन (अन्तःकरण) की शुद्धि से ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमेतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

मुण्डकोप० ३।१।६॥

इस शरीर में प्रणादि से प्रजाओं का चित्त (अन्तःकरण) ओत-प्रोत है। जिसके विशुद्ध (राग, द्वेषादि से रहित) होने पर परमातमा के स्वरूप का प्रकाश हो जाता है।

(१६) मन (अन्तःकरण) की शुद्धि ईश्वर-साक्षात्कार से होती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ मुण्डकोप० २।२।८॥

अर्थात् उस परं ब्रह्म की उपासना तथा साक्षात्कार से हृदयस्थ वासनाओं की गांठें, तथा सर्वविधि अज्ञान तथा दुष्कर्मों की वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं।

उपनिषद् और मन

(१७) मन की उत्पत्ति—

एतस्मात् प्रजायन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ मुण्डकोप० २।१।३॥

अर्थात् मूल कारण से मन तथा समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

(१८) अन्नमयं हि सोम्य मनः ॥ छन्दोग्य० ६।५।४॥

अर्थात् हे सोम्य ! यह मन अन्नमय है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्न से नवीन मन की उत्पत्ति होती किन्तु प्रकृति का विकार होने से मन पर भोजन का प्रभाव अवश्य होता है। तमोगुणी भोजन खाने से मन पर तमोगुण का प्रभाव अधिक हो जाता है, रजोगुणी भोजन से रजोगुण

का तथा सतोगुणी भोजन से सतोगुण का। इसी लिए लोक में प्रसिद्ध है—जैसा खाए अन्न, वैसा होता है मन।

हमारे शास्त्रों में बुद्धि को बढ़ाने वाले भोजनों का भी वर्णन आता है। महर्षि दयानन्द ने भी अनेक स्थानों पर उसका निर्देश किया है। उसका तात्पर्य भी यही है कि बुद्धि मन की एक वृत्ति है। अन्नादि का मन पर प्रभाव होता है, तो इस सतोगुणी वृत्ति पर भो प्रभाव अवश्य होता है। अतः इस अन्न के प्रभाव के कारण ही बुद्धि का घटना या बढना कहा जाता है।

चरक-संहिता में मनोविज्ञान

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक-संहिता' में 'मन' के विषय में लिखा है—

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्मसम्पत्त-दायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्। चरक० अ० ८।४॥

अर्थात् मन अतीन्द्रिय है, वह इन्द्रिय होकर भी इन्द्रियों की सीमा से परे है, उसको 'सत्त्व' भी कहते हैं। कई विद्वान् उसे 'चेतः' कहते हैं। उस मन का ग्राह्यविषय सुख-दुखादि हैं। ये सुखादि आत्मा के गुण हैं। उस आत्मा के आधीन ही मन की भी प्रवृत्ति है। और मन सब इन्द्रियों की सब चेष्टाओं तथा प्रत्यय (ज्ञान) का कारण है। अर्थात जब आत्मा प्रयत्नवान् होता है, तभी मन आत्मप्रेरित होकर सुखादि विषयों को अनुभव करता है और इन्द्रियों पर भी अधिष्ठाता है। मन इन्द्रियों से आत्मप्रेरित होकर ही ग्रहण करने योग्य रूप, रसादि का भी ज्ञान कराता है।

मन प्रति शरीर में एक ही है—

प्रत्येक प्राणी के शरीर में 'मन' एक होता है, अथवा अनेक ? इस विषय में एक ही मन का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं—

स्वार्थेन्द्रियार्थसंकल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमः सत्त्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वं, न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्त्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः॥ चरक० अ० ८।५॥

अर्थात् यह मन अपने चिन्तनीय विषयों, इन्द्रियों से ग्राह्य रूप-रसादि विषयों, तथा अनेक प्रकार के संकल्प करने से संख्या में अनेक प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि एक ही पुरुष में सत्त्व, रजस् और तमस गुणों के योग होने से मन अनेक प्रतीत होते हैं, वस्तुतः तो मन अनेक नहीं हैं। वह एक है। मन के सूक्ष्म होने पर भी वह एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान नहीं कर सकता, इसलिए सब इन्द्रियों की एक समय में अनेक युगपत् प्रवृत्ति नहीं होती।

मनः पुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।

चरक० अ० ८। ७॥

अर्थ—मन के साथ सम्पर्क होने पर ही इन्द्रियां अपने-अपने ग्रहण करने योग्य अर्थ रूप, रसादि को लेने में समर्थ होती हैं।

मन द्रव्य है—

मनो, मनोऽर्थो, बुद्धिर्, आत्मा चेत्याध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः शुभा-शुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति॥

चरक० अ०८। १३॥

अर्थ—मन, मन के विषय (संकल्पादि) बुद्धि और आत्मा से अध्यात्म द्रव्य और गुण हैं। ये ही शुभ और अशुभ कार्यों में प्रवृत्ति-निवृत्ति के कारण हैं। द्रव्यों के आश्रय से ही कर्म होता है, जिसको क्रिया कहते हैं।

मन का विषय और मन के रुग्ण होने के कारण—

'मनसस्तु चिन्त्यमर्थः, तत्र मनसे बुद्धेश्च, ते एव समानातिहीन-मिथ्यायोगाः प्रकृति-विकृतिहेतवो भवन्ति। चरक० अ० ८। १७॥

अर्थ—मनका ग्राह्यविषय चिन्तन करना है, वहां मन और मन से उत्पन्न बुद्धि भी समानयोग से स्वस्थ रहते हैं और अति योग, हीनयोग और मिथ्यायोग से विकार (रोग) को प्राप्त होते हैं।

चित्तादि हृदय पर आश्रित हैं—

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥

चरक० अ० ३०। ४॥

अर्थ—छः अंगों (दो हाथ, दो पांव, शिर और शेष मध्यभाग)

वाला देह, विज्ञान (चेतना), इन्द्रियाँ, (ज्ञानेन्द्रियाँ) और उनके पांच ग्राह्य विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और गुण (इच्छा) द्वेष, सुख और दुःख आदि गुणों) के सहित आत्मा, चित्त और चित्त का विषय (चिन्तन करना) ये सब हृदय पर आश्रित हैं।

हृदयविद्या के विचारक विद्वानों का यह मत है कि इन आत्मा' चित्तादि की प्रतिष्ठा के लिए हृदय उसी प्रकार आवश्यक है कि जैसे घर की कड़ियों को सम्भालने के लिए बीच की बड़ी थूणी या लट्ठा आवश्यक होता है। चरक० अ० ३० । ५ ॥

तस्योपधातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति ।
यद्धि तत्स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम् ॥
तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ चरक० अ० ३० । ६-७ ॥

अर्थ—उस हृदय के ऊपर चोट लगने से मूर्छा (बेहोशी) हो जाती है, और उसके फटने से मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। और जो स्पर्श-ज्ञान का साधन त्वचा है, वह तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग नामक 'धारि'=जीवन है, वह भी उस हृदय पर ही आश्रित है।

सबसे उत्कृष्ट धातु 'ओज' का स्थान भी हृदय है, वहाँ ही चेतना (आत्मा) का निवास है। इसलिए चिकित्सकों ने उस हृदय को महत्=सबसे 'महान् और अर्थ=सबका परम खजाना' नाम से कहा है।

हृदय के अर्थ में 'मनस्' का प्रयोग—

तन्महत्ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता ।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः ॥ चरक० अ० ३० । १३ ॥

अर्थ—उस महत्=हृदय की और हृदय रूप मूल से निकली दस धमनियों और उस ओज की रक्षा करते हुए मन=हृदय के तीव्र दुःख उत्पन्न होने के कारणों को भी सदा छोड़ देना चाहिए।

चित्त की शान्ति का उपाय—

हृद्यं यत्स्याद् यदौजस्यं स्रोतसां यत्प्रसादनम् ।
तत्तत्सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च ॥ चरक० अ० ३० । १४ ॥

अर्थः—ऐसे पदार्थों का सेवन यत्न से करना चाहिए, जो हृदय के

हितकारी हों, ओजस् धातु को बढ़ाने वाले हों, स्रोतों को स्वच्छ करने वाले हों और चित्त को शान्त करने वाले प्रशमसाधन=शान्ति, वैराग्यभावना और ज्ञान=अध्यात्म (औपनिदादि) आत्मज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

सुश्रुत-संहिता में मनोविज्ञान

मन की उत्पत्ति—भगवान् धन्वन्तरी के शिष्य महर्षि सुश्रुत रचित 'सुश्रुत-संहिता' आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके 'शारीर-स्थान' में मन की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति ॥

सुश्रुत० शारीर० अ० १। ४॥

अर्थ—सब भूतों के कारण अव्यक्त से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, जो कि तलिङ्ग=अव्यक्तस्वरूप ही है अर्थात् सत्त्व, रज, तमरूप है। उस महत्तत्त्व से त्रिविध अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। वह भी सत्त्व, रज' तम गुणात्मक है। वैकारिक, तैजस, तथा भूतादि (तामस) भेद से अहंकार के तीन भेद हैं।

तत्र वैकारिकादहंकारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पंच कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः ॥ सुश्रुत० शारीर० अ० १। ५-६॥

अर्थ—वैकारिक अहंकार से तैजस अहंकार की सहायता से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, जो कि सात्त्विक स्वरूप होती हैं। इन्द्रियाँ इस प्रकार हैं—श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हाथ, लिङ्ग, गुदा, पैर और मन। इनमें पहली पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, दूसरी पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन उभयात्मक अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय है। अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में अधिष्ठित होकर कार्य करता है, अतः यह उभयेन्द्रिय है।

इस प्रकार मन की उत्पत्ति अहंकार से मानी है। जो अहंकार

प्रकृति का ही विकार है। और इन २४ तत्त्वों को प्रकृति का विकार मानकर ही महर्षि सुश्रुत ने इन्हें जड़ कहते हुए लिखा है—

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः। सुश्रुत० शारीर० अ० १। ११॥

अर्थात् प्रकृति के विकार होने से २४ तत्त्व अचेतन (जड़) हैं।

आत्मा के गुणों का वर्णन—

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः-संकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः॥

सुश्रुत० शारीर० अ० १। २२॥

अर्थ—उस आत्मा (कर्मपुरुष) के गुण हैं—सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु का धारण करना, अपान वायु का छोड़ना, आंख खोलना, आंख मून्द लेना, बुद्धि, मनः, संकल्प, विचारणा, स्मरण करना, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि।

यहाँ पाठकों को भ्रान्ति हो सकती है कि मनादि के गुणों को भी आत्मा के गुण क्यों माना है? इसका उत्तर यह है कि चरक-संहिता में चिकित्सा की दृष्टि से वर्णन किया है। 'आत्मा' की चिकित्सा कैसे सम्भव है? इसलिए आयुर्वेद के अनुसार 'पुरुष' की परिभाषा यह है—

पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः। स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः।

सुश्रुत० शारीर० अ० १। २१॥

अर्थात् आत्मायुक्त पञ्चभूतात्मक शरीर ही पुरुष है और वही चिकित्सा-शास्त्र में उपयुक्त है। चरकसंहिता में मन, आत्मा और शरीर को पुरुष माना है। अतः पुरुष की परिभाषा के अनुसार ही मनादि को कर्मपुरुष का गुण कहा है।

मन के गुणों का वर्णन—मन प्रकृति का विकार होने से सत्त्वादि गुणों वाला है। अतः जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी गुण से मन को कहा जाता है। इस तरह त्रिविध मन के गुणों का वर्णन सुश्रुत में मिलता है।

सात्त्विक-मन के गुण—

सात्त्विकास्तु आनृशंस्यं, संविभागरुचिता, तितिक्षा, सत्यं, धर्म, आस्तिक्यं, ज्ञानं, बुद्धिः, मेधा, स्मृतिः, धृतिः, अनभिषङ्गश्च।

सुश्रुत० शारीर० अ १। २३॥

अर्थात् मन में सतोगुण के प्रमुख होने पर ये गुण प्रतीत होते हैं—अक्रूरता, संविभाग रुचिता=अन्नादि का सम्यग् वितरण, सुख-दुःखादि द्वन्दों को सहना, सत्य, धर्म, आस्तिकता, ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति, धैर्य और अनभिषङ्ग=निरिच्छापूर्वक अच्छे कार्यों का करना। ये सात्त्विक गुण के १२ गुण हैं।

राजस-मन के गुण—

राजसास्तु दुःखबहुलाऽटनशीलताऽधृतिरहंकार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ॥ सु० शा० अ० १। २५॥

अर्थात् रजोगुण की मन में प्रधानता होती है, तब मन में ये राजस गुण प्रतीत होते हैं—दुःखबाहुल्य, घूमने का स्वभाव, अधीरता, अहंकार, असत्य भाषण, क्रूरता, दम्भ, मान, आनन्द, विषय-सम्बन्धी इच्छा और क्रोध।

तामस-मन के गुण—तमोगुण-प्रधान मन के गुण ये हैं—

तामसास्तु विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधो ज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति। सु० शा० अ० १। २५॥

अर्थात् खेद करना, वेदादि को न मानना, धर्मविरुद्ध आचरण करना, बुद्धि का उपयोग न करना, ज्ञान न होना, दुष्ट बुद्धि रहना, काम करने की इच्छा न होना, नींद लेने की आदत रहना, ये तामस मन के गुण हैं।

———

वैशेषिक दर्शन में मनोविज्ञान

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में दर्शनों का विशिष्ट स्थान है। सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों पर पृथक् २ दर्शनों में ऋषियों ने सम्यक् विचार किया है। वैशेषिक दर्शन में प्रत्येक द्रव्य के साधर्म्य-वैधर्म्य दिखाकर प्रत्येक द्रव्य की समानता तथा असमानता को भली भांति दिखाया है। इस विद्या को न जानने से मध्यकाल में अनेक भ्रान्तियाँ पैदा हो गई थीं। जैसे 'जीवो ब्रह्म चेतनत्वात्' कहकर नवीन वेदान्तियों ने एक अवैदिक विचार को ही फैलाया। किन्तु जीव-ब्रह्म में चेतनता होने पर भी वैधर्म्य (सर्वज्ञ-अल्प-

ज्ञादि आदि) पर विचार नहीं किया। महर्षि दयानन्द ने फिर से हमारे सामने विस्मृत इस विद्या को समझाया। प्रस्तुत 'मन' के विषय में भी साधर्म्य-वैधर्म्य को जानने से आर्य विद्वानों की भी अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो जायेंगी। जैसे मन को जीव की शक्ति है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं, उन विद्वानों को वैशेषिक दर्शन के मनःसम्बन्धी स्थलों पर—ऊहापोह से विचार करना चाहिए।

वैशेषिक दर्शन में मन के विषय में निम्न बातों पर विचार किया है—

(१) मन द्रव्य है।
(२) प्रति शरीर में मन एक है।
(३) मन का लक्षण।
(४) मन के संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष।
(५) मानसिक क्रियाओं का कारण आत्मा है।
(६) मन का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता।
(७) मन का परिमाण अणु है।
(८) 'मनः' द्रव्यत्व की सिद्धि।
(९) 'मनः' आदि द्रव्यों का साधर्म्य।
(१०) मन के गुण।
(११) मानसिक गुणों का विवेचन।
(१२) ज्ञान का वाचक बुद्धि आत्मा का गुण है।
(१३) स्मृति का कारण।

वैशेषिक दर्शन में मन की गणना द्रव्यों में की है—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशंकालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥
वैशे० १। १। ५॥

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन ये नौ द्रव्य हैं। द्रव्य का लक्षण है—

क्रियागुणावत्समवायिकारणमिति द्रव्य-लक्षणम् ॥
वैशे० १। १। १५॥

अर्थात् क्रियावान् और गुणवान् अथवा गुणवान् तथा जो समवायि-ारण हो, उसको द्रव्य कहते हैं। क्योंकि मन संख्या परिमाणादि गुणों वालातथा क्रियावान् है, अतः मन द्रव्य है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।। वैशे० ३ । २ । २ ।।

वायु की तरह मन द्रव्य तथा नित्य है। मन संयोगादि गुणों का आश्रय होने से मन द्रव्य तथा अवान्तर सृष्टि में उत्पत्ति कारण के न पाये जाने से नित्य है। अर्थात् जैसे वायु स्पर्शादि गुणों का आश्रय होने से द्रव्य और अवान्तर सृष्टि में उसकी उत्पत्ति का कारण द्रव्य न होने से व्यावहारिक नित्य है, वैसे ही मन भी संयोग तथा क्रिया का आश्रय होने से द्रव्य है और मोक्षपर्यन्त स्थायी होने से व्यावहारिक नित्य है, परमार्थ नित्य नहीं।

प्रति शरीर में मन एक है, अनेक नहीं—

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ।। वैशे० ३ । २ । ३ ।।

अर्थात् प्रति शरीर में मन एक है क्योंकि प्रत्येक अङ्ग में युगपत् प्रयत्न तथा प्रत्येक विषय का युगपत् ज्ञान नहीं होते। शरीर में सब अवयवों में प्रयत्न तथा सब विषयों में ज्ञान समान काल में नहीं होते किन्तु भिन्न भिन्न काल में होते हैं। यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो उनका प्रत्येक अवयव तथा प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयोग होने से युगपत् (एक काल में ही) अनेक प्रयत्न तथा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते। परन्तु ऐसा न होने से सिद्ध है कि प्रति शरीर में मन एक है, अनेक नहीं।

अथवा इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि एक कार्य में संलग्न पुरुष की क्रिया का अन्य कार्यों में अभाव और प्रथम कार्य को समाप्त करके दूसरे कार्य में क्रिया का सद्भाव होता है। इसी प्रकार एक विषय के ज्ञान के समय अन्य विषयों के ज्ञान का अभाव तथा प्रथम ज्ञान के समाप्त होने पर अन्य विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि प्रत्येक शरीर में मन अनेक होते तो ऐसा कदापि न होता अर्थात् अनेक क्रियाएँ और अनेक ज्ञान युगपत् हो सकते थे। इससे स्पष्ट है कि प्रति शरीर में मन एक है, अनेक नहीं।

मन का लक्षण—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ।।
वैशे० ३ । २ । १ ।।

अर्थात् आत्मा इन्द्रियों तथा घटपटादि अर्थों का युगपत् सम्बन्ध होने पर भी जो एक विषय में ज्ञान का सद्भाव तथा अन्य विषय में असद्भाव होता है, वह मन की सिद्धि में लिङ्ग है।

एक काल में होने वाले सम्बन्ध का नाम 'युगपत् सम्बन्ध है। जब आत्मा के प्रयत्न से घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों में युगपत् सम्बन्ध होता है, तब किसी एक विषय का ज्ञान होने और अन्य विषय का ज्ञान नहीं होने से स्पष्ट है कि आत्मा और इन्द्रियों के मध्य सम्पर्क कराने वाला एक अन्य साधन है, जिसे 'मन' कहते हैं। हमें गन्ध-ज्ञान के समय रस-ज्ञान और रसज्ञान के समय गन्ध का ज्ञान नहीं होता है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा का सब इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी जिसके सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है तथा सम्पर्क न होने पर ज्ञान नहीं होता, वही ज्ञान का साधन मन है। भाव यह है कि हमें जो ज्ञान होता है, उसकी प्रक्रिया यह है कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों से सम्पर्क होने पर ही ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। उक्त रीति से जो द्रव्य आत्मा तथा इन्द्रियों के संयोग का आश्रय है वही 'मन' है।

मन की सिद्धि में अनुमान प्रमाण इस प्रकार बनेगा—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षः कार्योत्पत्तौ करणान्तरसापेक्षः। सत्यपि तस्मिन् कार्यानुत्पादात् तन्त्वादिवत् अत्र यदपेक्षणीयं करणान्तरं तन्मनः।

अर्थात् जैसे तन्तु आदि कारणों के होने पर भी तुरी वेमादि के न होने से पट की उत्पत्ति नहीं होती, अतः तुरी वेमादि करणान्तर की अपेक्षा रहती है, वैसे ही आत्माधिष्ठित इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध भी ज्ञानोत्पत्ति में किसी अन्य साधन की अपेक्षा वाला है, क्योंकि केवल इन्द्रिय तथा विषयों का सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान का अभाव देखा जाता है। अतः जो ज्ञान की उत्पत्ति में आत्मा तथा इन्द्रियसंयोग का आश्रय द्रव्य है, वही मन है। अथवा इसे प्रकारान्तर से इस प्रकार समझना चाहिए—

'सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वात् गन्धादि-साक्षात्कारवत्।'

जो जन्य प्रत्यक्ष है, वह करणजन्य होता है। इस नियम के अनुसार जैसे 'अयं गन्धः' 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान घ्राणादि इन्द्रिय करणजन्य है, वैसे ही 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' मैं सुखी या दुःखी हूँ, यहाँ सुखदुःखादि आभ्यन्तर विषयों का प्रत्यक्ष भी करणजन्य है। घ्राणादि इन्द्रियाँ बाह्य-विषयों के करण होने से सुख-दुःखादि आभ्यन्तर विषय के ज्ञान में करण नहीं हो सकतीं। परिशेष न्याय से जो सुख-दुःखादि आभ्यन्तर विषयों के

ज्ञान का साधन द्रव्य है, वही मन है। अतः मन का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि—

सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।

और स्वप्नकाल में अपने २ व्यापार से इन्द्रियों के विरत होने पर भी गन्धादि विषयों की स्मृति होती है, किन्तु इस स्मृति के निमित्त घ्राण, नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं हैं। क्योंकि—

'निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापायः' (महाभाष्य)

अर्थात् निमित्त के अभाव से नैमित्तिक का भी अभाव हो जाता है। इस नियम के अनुसार घ्राणादि इन्द्रियों के निवृत होने पर तन्निमित्तक गन्धादि ज्ञान की भी निवृत्ति हो जाती है। यदि गन्धादि विषयों की स्मृति में घ्राणादि इन्द्रियाँ निमित्त होतीं तो स्वप्न-काल में इन्द्रियों के स्वकार्यों से विरत होने पर गन्धादि की स्मृति कदापि नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि स्वप्न काल में गन्धादि विषयों की स्मृति का साधन मन है, घ्राणादि इन्द्रियाँ नहीं। जो उक्त स्मृति का साधन है, वही मन है।

मन के अस्तित्व में स्मृति एक महत्त्वपूर्ण साधन है। स्मृति का लक्षण इस प्रकार किया है—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात्संस्काराच्च स्मृतिः॥

वैशे० ९।२।६॥

अर्थात् आत्मा और मन के संयोगविशेष तथा पूर्वानुभव जन्य संस्कारों से स्मृतिज्ञान होता है।

तथा स्वप्नः॥ वैशे० ९।२।७॥

जैसे आत्मा और मन के संयोगविशेष तथा पूर्वानुभव जन्य संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है, वैसे ही स्वप्नज्ञान भी उत्पन्न होता है।

किसी विषय का अनुभव हो जाने पर उसके संस्कार आत्मा में सन्निहित हो जाते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त पाकर उनकी याद (स्मृति) आती है। यह स्मृति किसी बाह्येन्द्रिय द्वारा कदापि नहीं हो सकती। जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय को जाना है, उस इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर अथवा प्रयोग में न आने पर उस विषय की स्मृति होती रहती है। स्वप्न-दशा में इन्द्रियों के स्व-स्व व्यापारों में व्यापृत न होने पर भी ज्ञान परम्परा चलती रहती है, यह मन के सहयोग से संस्कारों का

उद्‌बोधन होकर ही सम्भव है। इस स्मृति से मन का अस्तित्व निर्बाधरूप से सिद्ध होता है।

और बाह्य इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में साधन रूप में उपयोगी हैं, किन्तु अनुमान, आगमादि प्रमाणों की प्रवृत्ति मन के विना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त संशय, ऊह (तर्क), प्रातिभज्ञान, तथा सुख-दुखादि का प्रत्यक्ष मन के अस्तित्व को ही सिद्ध करते हैं।

नवीन वेदान्तियों की भ्रान्ति—

स्मृति तथा स्वप्न में यह अन्तर होता है कि स्मृति पूर्वानुभूत विषयों की होती है और स्वप्नावस्था में जो पदार्थों का ज्ञान होता है, वह अनुभव रूप नहीं है। किन्तु पूर्वानुभव किए पदार्थों के संस्कारों से जन्य होने के कारण जाग्रतस्मृति की भांति स्मृति रूप है। भेद केवल इतना रहता है कि जाग्रत अवस्था में होने वाली स्मृति यथार्थ तथा स्वप्नावस्था में होने वाली स्मृति अयथार्थ है। अत एव प्रत्यत्त ज्ञान की भाँति प्रतीत होती है। वस्तुत: प्रत्यक्षरूप नहीं।

किन्तु नवीन वेदान्तियों ने जो स्वप्न ज्ञान को अनुभव रूप माना है, वह उनकी महाभ्रान्ति है। क्योंकि वह (स्वप्न ज्ञान) कोई अपूर्व ज्ञान नहीं और अनुभव ज्ञान अपूर्व होता है। यह नियम है। यदि आग्रह वश स्वप्न-ज्ञान को अपूर्व इान मान लें तो जन्मान्ध को रूप का चाक्षुष ज्ञान स्वप्न में अवश्य होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि स्वप्नज्ञान अपूर्व नहीं किन्तु स्मृति रूप है। स्वामी शंकराचार्य ने भी ब्र० सू० २।२।२९ के भाष्य में कहा है कि—'अपि वा स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्।' अर्थात् स्वप्न ज्ञान स्मृतिरूप है, अनुभव रूप नहीं। स्वप्नज्ञान में स्मृतिज्ञान से कुछ विशेषता होती है। दर्शनकार कहते हैं—

धर्माच्च ॥ वै० शे० ९। २। ९॥

स्मृति की भांति स्वप्न ज्ञान केवल आत्मा—मन के संयोग विशेष तथा पूर्वानुभव जनित संस्कारों से ही उत्पन्न नहीं होता किन्तु धर्म अधर्मादि कारणों से भी होता है। तात्पर्य यह है कि स्मृति ज्ञान की भांति स्वप्न ज्ञान संस्कारजन्य होने पर भी धर्मादि सहकारी कारणों के कारण धर्मजन्य, अधर्मजन्य तथा धातुदोषजन्य भेद से तीन प्रकार का होता है। जो स्वप्न ज्ञान चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है वह धर्मजन्य, दुःख करने वाला

अधर्मजन्य तथा आकाश गमनादि वाला धातुदोष जन्य होता है। शरीर में धातु तीन प्रकार के हैं—वात, पित्त तथा कफ। वात के विकृत होने से भय वश रक्षार्थ आकाश गमनादि समझता है, पित्त के विकृत होने पर अग्नि दाह, विद्युच्चमत्कारादि देखता है। और कफ के विकृत होने पर नदी प्रवाह, समुद्र सदृश विशाल जलराशि, और हरे २ पहाड़ादि देखता है। अत एव स्मृति से स्वप्न में विलक्षणता होती है।

मन के संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष—

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ (वैशे० ९। १। ११)

अर्थात् बाह्य विषयों से हट कर केवल आत्मा में वर्त्तमान आत्मा तथा मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। जब योगी का चित्त बाह्य विषयों से हटकर अपने आत्मा में ही लग जाता है, तब उसको आत्मा का साक्षात्कार होता है।

मानसिक क्रियाओं का कारण आत्मा—

हस्तकर्मणा मनसः कर्म आख्यातम् ॥ (वैशे० ५। २। १४)

जैसे हस्तादि अवयवों में क्रिया का कारण आत्मा का संयोग है, वैसे ही मानसिक क्रियाओं में आत्मा का मन के साथ संयोग होता है। जब आत्मा चाहता है अपने प्रयत्न से कर्म के लिए मन को प्रेरित करता है। उसमें मन में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, वह आत्मा के अभिलषित कार्य में लग जाता है।

जैसे हाथादि अवयवों में होता हुआ कर्म प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे मानसिक क्रिया में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुए दर्शनकार कहते हैं—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात सुखदुःखे ॥ (वैशे० ५। २। १५)

अर्थात् सुख व दुःख आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सन्निकर्ष से होते हैं। संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी वस्तु की प्राप्ति में सुख का और किसी की प्राप्ति में दुःख का अनुभव करता है। यह अनुभव आत्मा को कैसे हो पाता है? बाह्य विषय के साथ न तो आत्मा का सीधा सम्बन्ध होता है, न मन का। आत्मा चेतन होने से ज्ञाता तथा अनुभविता है और मन आन्तर साधन है, चक्षु आदि इन्द्रियां बाह्य साधन हैं। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों का होता है। आत्मा जिस विषय का

प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है, वह आन्तर करण मन को प्रेरित करता है, और वह उस विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय से सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को प्रेरित करता है, इन्द्रियां उस वस्तु से सम्बद्ध होकर उस विषय का प्रत्यक्ष कराती हैं। इस प्रकार आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध की परम्परा से आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है।

विभिन्न बाह्यादि रूपादि विषयों को जानने के लिए पाञ्च ज्ञानेन्द्रियां हैं। आत्मा जिस इन्द्रिय के विषय को जानना चाहता है, मन को उसी इन्द्रिय सम्बद्ध कर लेता है। एक समय में मन का सम्पर्क एक ही इन्द्रिय से हो सकता है अतः एक समय में एक ही ज्ञान होता है।

इस व्यवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों का ग्रहण करने के लिए उन २ इन्द्रियों से सम्बन्ध करने के लिए मन को गति करनी अत्यावश्यक है। एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरी से सम्बन्ध करना गति-कर्म का प्रयोजक है। इसी लिए मन को वायु की तरह चंचल कहा जाता है।

(प्रश्न) यदि मन चञ्चल है तो उसका निरोध न होने से मोक्षप्राप्त कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर दर्शनकार स्वयं देते हैं—

तदनारम्भे आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ॥

वैशे० ५। २। १६॥

अर्थात् मन के आत्मा में स्थिर होने पर कर्म का अनारम्भ होता है और उससे शारीरिक सुखों व दुःखों का अभाव हो जाता है .वही योग है। तात्पर्य यह है कि मन की आत्मप्रतिष्ठा ही समाधिलाभ है। जब मन का सम्बन्ध बाह्य इद्रिन्यों के साथ रहता है, तब सुखदुःखादि का अनुभव होता है। यह मन की क्रियाशीलता की दशा है। इसकी प्रतियोगी दशा है—मन का बाह्य इन्द्रियों से सम्बद्ध न रहना। उस दशा में शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। यही यथार्थ में योग है।

(प्रश्न) मृत्यु के अवसर पर जब जीवात्मा शरीर को छोड़ता है तब जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर अर्थात् मन एवं इन्द्रियां देह से बाहर निकल जाती हैं और देहान्तर को प्राप्त होती हैं। उस समय इनकी गति का कारण क्या होता है ? इसका उत्तर दर्शनकार ने यह दिया है—

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः।
कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥ वैशे० ५। २। १७॥

अर्थात् अपसर्पण=पूर्व शरीर में आत्मा, मन, इन्द्रियादि का बाहर निकलना, उपसर्पण=नये शरीर में आत्मा, मन, इन्द्रियादि का प्रवेश करना, अशितपीतसंयोगाः=वहाँ खाए, पीए के सम्बन्ध से होने वाले क्रिया-कलाप, कार्यान्तिरसंयोगाः=इन्द्रिय प्राणादि के सम्बन्ध से होने वाले कर्म, ये सब अदृष्ट कारित होते हैं अर्थात् जीवों के धर्माधर्म के अनुरूप ईश्वरीय व्यवस्था से उन सब क्रिया-कलापों का संचार हुआ करता है।

मन का प्रत्यक्ष नहीं—

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ वैशे० ८ । १ । २३ ॥

नौ द्रव्यों के मध्य आत्मा=जीवात्मा, परमात्मा, मन और चकार से वायु, आकाश, काल, दिक् तथा मूलकारण प्रकृति इन सबका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि ये रूप तथा महत् परिमाण वाले नहीं हैं। नो द्रव्यों में पृथिवी, जल तथा तेज इन द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, शेष का नहीं।

मन का परिमाण—

तदभावादणुः मनः ॥ वैशे० ७ । १ । २३ ॥

आकाशादि विभु हैं, उनके विपरीत मन अणु परिमाण वाला है। शरीर में मन एक है, उसका समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ एक काल में संयोग न होने से मन 'अणु' परिमाण वाला है।

मन की अणुता न्याय दर्शन में भी (३ । १-५६-५९) 'ज्ञानयौगपद्य' हेतु के आधार पर सिद्ध की है। बाह्येन्द्रिय ग्राह्य विषय के ज्ञान में सह-योगी मन एक काल में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त होने के कारण अणु है। यदि मन विभु होता तो एक काल में सब के साथ संयोग होने से युगपत् अनेक ज्ञान हो जाने चाहिएं।

———

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपादभाष्य में मनोविज्ञान—

'मनः-द्रव्य' की सिद्धि—

मनस्त्वयोगान्मनः । सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञान-
सुखादीनामभूत्वोत्पत्तिदर्शनात् करणान्तरमनुमीयते ॥
श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्ये न्द्रियैरगृहीत-
सुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तःकरणम् ॥

(वैशे० प्रशस्तपाद)

अर्थात् मनस्त्व नामक द्रव्यत्व व्याप्य जाति के आधारद्रव्य को मन कहते हैं। उक्त लक्षण 'मनःनामक' द्रव्य के सद्भाव में क्या प्रमाण है ? इस का उत्तर भाष्यकार देते हैं—

आत्मा का सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ एक काल में सम्बन्ध तथा इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने पर भी एक पदार्थ के ज्ञान के समय दूसरे से सुख-दुःख नहीं होता, इस कारण आत्मा, इन्द्रिय तथा विषय के सम्बन्ध से सुखादि कार्य की उत्पत्ति में एक विशेष कारण की अपेक्षा करता है। क्योंकि उसके रहने पर ही सुखादि का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। यह अनुमान ही 'मनः' का साधक प्रमाण है।

मन की सिद्धि में प्रमाणान्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि श्रोत्र, चक्षु आदि बाह्येद्रियों का व्यापार न होने पर भी स्मृति की उत्पत्ति देखने में आती है। इस कारण स्मरणात्मक ज्ञान इन्द्रिय से उत्पन्न है, ज्ञान होने से गन्धादि बाह्य विषय ज्ञान के समान। इस अनुमान के द्वारा स्मृतिज्ञान का कारण मन की सिद्धि होती है। अन्धे, बधिरादि प्राणियों के चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों की शक्ति न होने पर भी स्मृति होती है। उसमें श्रोत्रादि इन्द्रियकरण नहीं हैं। अतः जो स्मृतिज्ञान में करण है, वही मन है।

तथा जिन सुखादिविषयों का बाह्येन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता, ऐसे आन्तरिक सुखादि रूप विषयों की सत्ता होने से भी सुखादि ज्ञान इन्द्रिय-जन्य हैं, प्रत्यक्ष होने से रूपादि के समान। इस अनुमान से भी मनरूप द्रव्यान्तर सिद्ध होता है।

मन आदि द्रव्यों का साधर्म्य—

पृथिव्युदकज्वलनपवनात्ममनसामनेकापरत्वजातिमत्त्वे। क्षिति जल-ज्योतिरनिलमनसां क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वपरत्वापरत्ववेगवत्त्वानि।

(वै० प्रशस्तपाद०)

पृथवी, जल, तेज, वायु, आत्मा तथा मन इन छः द्रव्यों का अनेकत्व व अपर जातिमत्त्व साधर्म्य है। और पृथ्वी, जल, तेज वायु तथा मन इन पांच द्रव्यों का क्रियावत्व, मूर्तत्व, परत्व, अपरत्व तथा वेगवत्त्व साधर्म्य है।

इससे स्पष्ट है कि मन द्रव्य है और वह प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने कारण अनेकत्व, अपरजातिमत्त्व साधर्म्य वाला है। और अन्य द्रव्यों की भाँति मन भी क्रियावान् तथा मूर्त्तत्वादि से युक्त है।

मन के गुण—

तस्य गुणाः—संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व-संस्काराः। प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम्। पृथक्त्व मप्यत एव। तदभाववचनादणुपरिमाणम्। अपसर्पणोपसर्पणवचनात् संयोगविभागौ। मूर्त्तत्वात् परत्वापरत्वे संस्कारश्च। (वैशे० प्रशस्तपाद०)

अर्थ—उस मन के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, तथा वेग नाम का संस्कार, ये आठ गुण हैं। जिनमें से प्रयत्न तथा ज्ञानों के एक काल में उत्पन्न न होने से प्रत्येक शरीर में एक ही मन है। प्रति शरीर में मन की एकत्व संख्या सिद्ध होने के कारण संख्यानुसारी पृथक्त्व गुण मन में सिद्ध होता है। तथा 'तदभावादणु मनः' इस सूत्र के अनुसार व्यापकता न होने के कारण मन अणुपरिमाण भी सिद्ध होता है। 'अपसर्पणमुपसर्पणम्' सूत्र के अनुसार मन का पूर्व शरीर से हटना, दूसरे शरीर में जाने का वर्णन होने से मन में संयोग तथा विभाग गुण सिद्ध होते हैं। तथा मूर्त्तद्रव्य होने के कारण घटादि मूर्त्त द्रव्यों के समान परत्व, अपरत्व, तथा वेग नामक संस्कार भी मन में सिद्ध है।

अस्पर्शत्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम्। क्रियावत्त्वान्मूर्त्तत्वम्। साधारण-विग्रहवत्त्वप्रसंगादज्ञत्वम्। करणभवात् परार्थम्। गुणवत्त्वाद् द्रव्यम्। प्रयत्नादृष्टपरिग्रहवशादाशुसंचारि चेति॥ (वै शे० प्रशस्तपाद०)

और मन स्पर्शाश्रयद्रव्य नहीं है, अतः समान जाति के द्रव्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि स्पर्शाश्रय द्रव्य ही द्रव्य को उत्पन्न करते हैं।

तथा घटादिकों के समान मन भी क्रिया का आधार होने से मूर्त्तता (जिसके परिमाण की इयत्ता का ग्रहण होता है) सिद्ध होती है। तथा मन भी चक्षुरादि इन्द्रियों के समान करण होने से परार्थ (दूसरे के उपभोग का) साधन है। और मन गुणवान् होने से पृथिव्यादिकों के समान द्रव्य है। और प्रयत्न और अदृष्ट के परिग्रह से शीघ्र गति वाला है। अर्थात् आत्मा के प्रयत्न से या अदृष्ट वश मन शीघ्र संचरण करता है।

मानसिक-गुणों का विवेचन—

उपर्युक्त प्रशस्त भाष्य में मन का संयोग गुण माना है। और संयोग (अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः) दो अप्राप्त पदार्थों का होता है। अतः मन आत्मा की शक्ति नहीं है। क्योंकि शक्ति का संयोग सम्भव नहीं होता है, वह तो पृथक् नहीं हो सकती। और मन का एक गुण संस्कार माना है। संस्कार तीन प्रकार का होता है—वेग, भावना और स्थिति स्थापक। उनमें से—वेगो मूर्त्तिमत्सु पञ्चसु द्रव्येषु (प्रशस्तपाद०)

पृथवी, जल, वायु तथा मन इन पाञ्चद्रव्यों में वेग नामक संस्कार माना है। इसी प्रकार मन का एक गुण है परिमाण। यह परिमाण चार प्रकार का माना है—अण, महद् दीर्घ तथा ह्रस्व। मन का परिमाण कौन सा है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

अणवपि द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाण मनस्सु तत्तु पारिमाण्डल्यम्॥

अर्थात् पृथिव्यादि के परमाणुओं तथा मन का अणु परिमाण है और वह नित्य है। अनित्य अणु परिमाण द्व्यणुक में होता है।

ज्ञानवाचक बुद्धि आत्मा का गुण है—

वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को २४ गुणों में माना है और बुद्धि को आत्मा का गुण मानते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

तस्य गुणाः—बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेष०।

अर्थात् उस आत्मा के बुद्धि, सुख, दुखादि १४ गुण हैं और सुख-दुःखादि की तरह बुद्धि का ग्रहण मन रूपी साधन से होता है। इसकी पुष्टि करते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः॥

अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न केवल मन से गृहीत होते हैं, अतः इनका अन्तःकरणग्राह्यत्व साधर्म्य है।

जैसे सुखदुःखादि आत्मा के लिंग हैं, वैसे ही बुद्धि (ज्ञान) आत्मा का लिंग है, और इनके ग्रहण का साधन अन्तःकरण (मन) ही है वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में आगे कहा है—

'बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगाद् उपलब्धिः ॥' अर्थात् आत्मा और मन के संयोग से बुद्धि सुखादि की प्राप्ति होती है।

मन चेतन नहीं है—

वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार मन को चेतन नहीं मानते हैं। वे लिखते हैं—न शरीरोन्द्रियमनसामज्ञत्वात् ॥

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय तथा मन अज्ञ=ज्ञान के समवायिकारण न होने से ज्ञानाधार नहीं हो सकते। अतः ज्ञानाश्रयत्वरूप चेतनता उनमें नहीं आ सकती।

नापि मनसः करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनस्मृति-प्रसङ्गात् स्वयं कारणभावाच्च ॥ (वैशे० प्रशस्तपाद०)

अर्थात् मन को चेतन कदापि नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मन को चेतन मानने पर दूसरे कारण की अपेक्षा न होने पर एक ही काल में अनेक ज्ञान तथा स्मृतियां होने लगेंगी। और मन स्वयं करण होने से कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। अतः चेतना का आश्रय आत्मा ही है, मन नहीं।

स्मृति का कारण—

इस विषय में प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—'लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षाद् आत्ममनसोः संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद् दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु शेषानुव्यवसायेच्छानुस्मरणद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिरिति ।'

अर्थात् लिङ्ग दर्शन, इच्छा, तथा पश्चात् स्मरण इत्यादि की अपेक्षा करने वाले आत्मा तथा मन के विशेष संयोग से और दृढ़ अभ्यास तथा आदर ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से देखे हुए, सुने हुए अथवा अनुभव किए हुए पदार्थों में अन्तिम अनुमेय ज्ञान, इच्छा, पश्चात् स्मरण तथा द्वेष का

कारण अतीत पदार्थ विषयक स्मृति होती है। तात्पर्य यह है कि स्मृति अतीत विषय की ही होती है, उसमें आत्मा और मन का संयोग तो आवश्यक होता ही है। साथ ही लिङ्गदर्शन, दृढ अभ्यास, तथा आदर ज्ञान-जन्य भावना नामक संस्कार भी कारण होता है। स्मृति प्रत्यक्ष किए प्रमाणों से जाने गए, अथवा अनुमान प्रमाण से जाने हुए विषयों की होती है। शेषानुव्यवसाय=लिङ्ग दर्शन के पश्चात् होने वाला अनुमेय ज्ञान, इच्छा पश्चात् स्मरण, तथा द्वेष रूप कार्यों का कारण स्मृति है।

न्याय-दर्शन में मनोविज्ञान

न्याय दर्शन में मन सम्बन्धी निम्न विषयों पर विचार किया गया है—

(१) मन का लक्षण।
(२) मन की गणना प्रमेयों में आत्मा से भिन्न है।
(३) बुद्धि का लक्षण।
(४) मानसिक शुभाशुभ कर्म।
(५) मन इन्द्रिय है।
(६) क्या इन्द्रियाँ भौतिक हैं ?
(७) मन ही आत्मा क्यों नहीं ?
(८) प्रति शरीर में मन एक है।
(९) मन का कार्यक्षेत्र शरीरान्तर्गत ही है।
(१०) मन चेतन नहीं है।
(११) मन का गुण ज्ञान नहीं।
(१२) स्मृति के कुछ प्रमुख कारण।
(१३) मन अणु है, विभु नहीं।

मन का लक्षण—न्याय दर्शन में मन का लक्षण करते हुए लिखा है—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ न्याय० १।१।१६॥

अर्थ—जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण=ज्ञान नहीं होता उसको मन कहते हैं। (महर्षि दयानन्द)

इस सूक्त की उपक्रमणिका में महर्षि वात्स्यायन लिखते हैं—

'स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि। तेषु सत्सु इमयपि।'

अर्थात् यद्यपि न्यायसूत्र में प्रोक्त मन का लक्षण प्रमुख है, किन्तु मन के ज्ञापक लिङ्ग अन्य भी हैं। अतीत विषयक स्मृति बिना कारण के सम्भव नहीं है। इसका कारण मन ही है। अनुमान-प्रमाण व्याप्ति की स्मृति भी मन के बिना सम्भव नहीं है। आगम=शब्दप्रमाण में शब्द के पदार्थ में शक्तिग्रह स्मृति को अपेक्षा होती है, उसका करण मन है। 'स्थाणु है या पुरुष' इत्यादि संशय स्थल पर स्थाणु तथा पुरुष के समान धर्मों की स्मृति का करण मन है। प्रातिभ-ज्ञान का करण भी मन है। स्वप्नज्ञान ब्राह्येन्द्रियों का सम्पर्क न होने पर स्मृति रूप ही है, अतः उसका करण भी मन है। 'यदि यहाँ अग्नि न हो, तो धूम भी नहीं होगा' इत्यादि ऊहा में भी स्मृति की अपेक्षा है, उसमें भी मन ही करण है। सुख-दुःखादि के प्रत्यक्ष में आत्मा का करण मन है। मन के विना सुख-दुःखादि का ज्ञान सम्भव नहीं है। और इच्छादि आत्मा के व्यापार भी करणसाध्य हैं। उनका भी करण मन ही है। इसी बात को वात्स्यायन मुनि ने इस प्रकार कहा है—

'अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति।'
(वात्स्या० भाष्य०)

अर्थात् उपर्युक्त मन के स्मृति आदि लिंगों में बाह्येन्द्रिय तो करण हो नहीं सकते। क्योंकि स्मरण जिसका हो रहा है, उससे बाह्येन्द्रिय का संयोग नहीं है। किन्तु बिना करण के स्मृत्यादि व्यापार कैसे सम्भव हैं? अतः उनका बाह्येन्द्रियों से भिन्न करण अवश्य होना चाहिए और वह करण ही मन है।

उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में मन की सिद्धि दिखाते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च संनिकर्षेषु सत्सु युगपद् ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते। तेनानुमीयते अस्ति तत्तादिन्द्रियसंयोगिसहकारिनिमित्तान्तरमव्यापि यस्याऽसंनिधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं संनिधेश्चोत्पद्यते इति। मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसंनिकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति। (वात्सायन भाष्यम्)

अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों के साथ एक साथ सम्पर्क होने पर भी युगपत् ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इससे अनुमान होता है कि इन्द्रियों से संयोग रखने वाला, सहकारी कोई अव्यापि=अणु दूसरा निमित्त है। जिसके सम्पर्क होने पर ज्ञान होता है और सम्पर्क न होने पर ज्ञान नहीं होता। यदि इन्द्रियों के साथ ज्ञानोत्पत्ति में मन के संयोग की अपेक्षा न हो, तो एक काल में युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए। क्योंकि एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते, अतः उसका कारण मन ही है।

मन की गणन आत्मा से भिन्न की है—

न्याय दर्शन में आत्मा, मन, बुद्धि आदि को (न्याय० १।१।६) सूत्र में प्रमेयों के अन्तर्गत भिन्न २ माना है। महर्षि वात्स्यायन ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) आत्मा=सर्वस्य द्रष्टा, सर्वस्य भोक्ता, सर्वज्ञः=सर्वानुभवी।

(२) मनः=सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः।

(३) भोगो=बुद्धिः।

अर्थात्=आत्मा सर्वद्रष्टा सर्वभोक्ता तथा सर्वानुभविता है।
मन =सुखदुःखादि सब विषयों का ग्रहणसाधन अन्तःकरण मन है।
बुद्धि=सुखादि का ज्ञान (भोग) बुद्धि है।

बुद्धि का लक्षण—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्॥ न्याय० १।१।१५॥

अर्थात् बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान पर्यायवाची है।

न्याय दर्शन की तरह ही वैशेषिक दर्शन में भी (बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः—प्रशस्त पाद०) बुद्धि को ज्ञान का पर्यायवाची मानकर २४ गुणों में माना है। किन्तु ज्ञान का करण जो निश्चयात्मक वृत्ति है, वह मन की एक वृत्ति है। अतः इस भेद को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

न्याय दर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने न्याय० १।१।१७॥ सूक्त के भाष्य में लिखा है—'मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतम्—बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः' अर्थात् इस सूत्र में 'बुद्धि' शब्द से मन का ग्रहण है। क्योंकि मन ही

ज्ञान का साधन है। और प्रवृत्ति ज्ञानवाचक बुद्धि की नहीं हो सकती। 'मन' की प्रवृत्ति होती है।

मानसिक कर्म—

न्यायदर्शन के १।१।२ सूत्र के भाष्य में महर्षि वात्स्यायन ने मन के शुभ तथा अशुभ कर्मों की गणना करते हुए लिखा है—

(अशुभा प्रवृत्तिः) मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति।

अर्थात् परद्रोह करना, दूसरों के द्रव्यों को लेने की इच्छा और नास्तिकता ये मन के त्रिविध अशुभ कर्म हैं।

(शुभा प्रवृत्तिः) मनसा दयामस्पृहां श्रद्धाच्चेति।

अर्थात् दया करना, स्पृहा न करना तथा श्रद्धा करना ये तीन मन के शुभ कर्म हैं।

मन के सम्पर्क के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता—

न्याय० १।१।४। सूत्र के भाष्यकार वात्स्यान मुनि लिखते हैं—आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेणेति। अर्थात् आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्पर्क होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मन इन्द्रिय है—

न्याय० १।१।४ सूत्र के भाष्य में सुखदुःखादि के प्रत्यक्ष के विषय में लिखते हुए महर्षि वात्स्यायन लिखते हैं—

'इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्।'

अर्थात् मन भी इन्द्रिय है परन्तु महर्षि गौतम ने प्रमेयो में मन को इन्द्रियों से भिन्न क्यों गिनाया है? इसका उत्तर यह है कि धर्मभेदात्= बाह्येन्द्रियों से विलक्षण होने के कारण मन को इन्द्रियों से पृथक् गिनाया है। इन्द्रियों से मन की विलक्षणता बताते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

'भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति। मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति।'

अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अर्थात् स्थूल भूतों से बनी है। और अपने २ विषय का ही ग्रहण कराती हैं। जैसे चक्षु रूप को ही ग्रहण कराती

हैं और घ्राण गन्ध को ही इत्यादि। रूपादि गुणों के ग्रहण कराने के कारण ही चक्षु आदि का इन्द्रियत्व है। परन्तु मन स्थूल भूतों से उत्पन्न न होता अहङ्कार से इसकी उत्पत्ति होती है। अतः मन अभौतिक है और रूपादि सब विषयों को ग्रहण कराने में साधन है। किसी एक ही रूपादि गुण का ग्राहक न होने से मन का सगुण भाव नहीं है। और बाह्य इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के ग्रहण में नियत होने से 'सगुण' कहलाती हैं।

क्या इन्द्रियां भौतिक हैं ?

यहां पर वात्स्यायन मुनि के भाष्य में मन को अभौतिक तथा इन्द्रियों को भौतिक कहा है इससे पाठकों को सन्देह हो सकहा है कि महर्षि दयानन्द ने तो सांख्य दर्शन का उद्धरण देते हुए लिखा है—

'अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्। अर्थात् अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं, दश इन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति मानी है। यहां इन्द्रियों तथा मन का जब एक ही कारण माना है, तब यहां भौतिक तथा अभौतिक भेद कैसे सम्भव है ?

न्याय दर्शन में बाह्येन्द्रियों की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है—

कानि पुनरिन्द्रियकारणान—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ (न्याय० १। १। १३) अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियाँ पृथिव्यादि भूतों के कार्य हैं।

यहां पृथिवी आदि पञ्चभूतों से निर्मित शरीरस्थ चक्षुरादि इन्द्रियों के स्थान विशेषों तथा पृथिवी आदि के विशिष्ट गुणों को ध्यान में रखकर ही इन्द्रियों को पञ्च महाभूतों का कार्य माना गया है। क्योंकि न्याय० १। १। १२ सूत्र की उपक्रमणिका में वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—'भोग-साधनानि पुनः' अर्थात् घ्राणादि इन्द्रियाँ भोग करने के साधन हैं। और इनका भोग साधनत्व शरीराश्रय से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। यद्यपि नेत्रादि गोलक यथार्थ में इन्द्रियाँ नहीं हैं, किन्तु उपचार से इनको इन्द्रिय कहा जाता है इसलिए न्याय दर्शन में कहा है—

'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ न्याय० १। १। ११॥

अर्थात् चेष्टा का तथा इन्द्रियार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न सुख-दुःख के भोग का आश्रय शरीर है। बिना शरीर के इन्द्रियाँ भोग का साधन नहीं हो सकतीं। वात्स्यायन मुनि कहते हैं—

'यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्व-साधुषु वर्त्तन्ते स एषामाश्रयः तच्छरीरम्।

अर्थात् इन्द्रियाँ शरीर के आश्रय से ही अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। और उन शरीरस्थ नेत्रादि स्थनों के दूषित होने पर प्रवृत्त नहीं होतीं। अतः स्पष्ट है कि यहां दर्शनकार का अभिप्राय इन्द्रियों के स्थान विशेषों को ही भौतिक कहने से है।

किन्तु सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत जन्म-जन्मान्तरों में जो पांच ज्ञानेन्द्रियां मानी गई हैं, उनकी रचना पञ्चमहाभूतों से नहीं, प्रत्युत अहंकार से ही होती है। अतः सांख्य और न्याय दर्शन का परस्पर विरोध नहीं आता और इन्द्रियों के विषय में न्याय दर्शन में आगे प्रश्नोत्तर रूप में एक लम्बा विवाद दिया है। जिसकी कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

अथेदानीन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते—किमव्यक्तिकानि ? आहोस्विद् भौतिकानि ? (वात्स्या० भाष्य) अर्थात् क्या इन्द्रियां आव्यक्तिक अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं, अथवा पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न हुई हैं ? यह संशय कैसे हुआ ?

कृष्णासारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चानुपलम्भात् संशयः ॥

न्या० ३।१।३०॥

अर्थात् कृष्णासार=नेत्रगोलक कनीनिका के होने पर रूप उपलब्ध होता है, और उसके दूषित होने पर रूप उपलब्ध नहीं होता। अतः अन्वय व्यतिरेक न्याय से भौतिक कृष्णसार ही नेत्रेन्द्रिय है। और अभौतिक पक्ष इसलिए है कि संयुक्त होकर ही इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण कराती हैं, अन्यथा कुडचादि से व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष होना चाहिए। परन्तु इन्द्रियों से दूरस्थ पदार्थ का ग्रहण होता है, अतः इन्द्रियाँ अभौतिक होनी चाहिएँ।

महदणुग्रहणात् न्याय० ३।१।३१॥

इन्द्रियां अभौतिक हैं क्योंकि इन्द्रियों से महान् से महान् वट (बड़) पर्वतादि तथा छोटे से छोटे वट-बीजादि का भी ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक चक्षुरादि तो अपने परिणाम के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण करा सकती हैं उससे बड़ी या छोटी का नहीं, किन्तु अभौतिक सबका ग्रहण करा सकती हैं। इसका समाधान निम्न सूत्र से किया है—

रश्म्यर्थसंनिकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ न्याय० ३।१।३२॥

अर्थात् इन्द्रियाँ अभौतिक नहीं हैं। दीपक की रश्मि=किरण की तरह चक्षुरश्मियाँ भी संयोगविशेष से महद् या अणु वस्तुओं का ग्रहण कराती हैं। जैसे दीपक रश्मि आवरण युक्त पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही चक्षु रश्मि भी कुड्यादि से ढकी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं करा सकती। अतः इन्द्रियां प्रदीप रश्मि की तरह भौतिक हैं।

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः ॥ न्याय० ३।१।३८॥

इन्द्रियाँ आवरण होने पर पदार्थों का ग्रहण नहीं करातीं, क्योंकि यह भौतिक पदार्थों का धर्म है।

इस प्रकार एक लम्बे विवाद के बाद न्याय दर्शनकार का निर्णय यही है कि इन्द्रियां भौतिक हैं। किन्तु समस्त विवाद में शरीराश्रय से भोग के साधन इन्द्रियों पर ही विचार किया गया है। सांख्य तथा न्याय की मान्यताओं में यह कोई मौलिक भेद नहीं है। क्योंकि साँख्य में इन्द्रियों की मूल उत्पित्ति पर विचार किया है और न्याय में भोगसाधन इन्द्रियों पर विचार किया है। इन्द्रियाँ शरीराश्रय से ही भोग करा सकती हैं। इसीलिए न्याय० १।१।१२ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने लिखा है—'त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानात्' अर्थात् त्वगादि इन्द्रियों का शरीरस्थ स्थानों में गौण व्यवहार है।

मन ही आत्मा क्यों नहीं ?

न्याय दर्शन में ३।१।१६ सूत्र में प्रथम यह पूर्व पक्ष रखा है कि देहादि संघात से भिन्न कोई 'आत्मा' नहीं है। क्योंकि आत्मा के साधक जो भी हेतु हैं, वे तो मन में ही सम्भव हैं। जैसे 'यमद्राक्षं तं स्पृशामि' जो मैंने देखा था उसको ही छू रहा हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा हो देहदि से भिन्न आत्मा को सिद्ध करती है। किन्तु यह तो मन में भी सम्भव है क्योंकि मन भी एक है। इसका उत्तर न्याय दर्शनकार देते हुए लिखते हैं—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ न्याय० ३।१।१७॥

ज्ञान के साधनों के विना ज्ञानकिया का सम्भव नहीं है अतः ज्ञाता आत्मा को ज्ञान के साधनों की परमावश्यकता होती है। जैसे रूपादि ज्ञान का कारण चक्षुरादि इन्द्रियां हैं, वैसे ही सुखादि ज्ञान का साधन मन है। यदि आप 'आत्मा' के लिए 'मनः' शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं, और 'मनः' के लिए अन्तःकरण कोई अन्य है, तब तो संज्ञाभेद मात्र ही हुआ, कोई

पदार्थभेद नहीं। और यदि आत्मा से भिन्न अन्तःकरण मन की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, तब तो।

'सर्वेन्द्रियविलोपः प्रसज्यते'। (वात्स्यायन भाष्य)

रूपादि ग्रहण के साधन चक्षुरादि को भी मानने की क्या आवश्यकता है? किन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है अतः ज्ञाता तथा ज्ञान के साधनों के भिन्न भिन्न होने से मन (अन्तःकरण) आत्मा से भिन्न है।

नियमश्च निरनुमानः। न्याय० ३। १। १८॥

यदि यह कहा जाए कि रूपादि विषयों के ग्रहण के साधन चक्षुरादि तो है, किन्तु 'मन' नहीं है, तो इसमें कोई अनुमान नहीं है! जैसे चक्षु से गन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता, करणान्तर घ्राण की सत्ता माननी पड़ती है वैसे ही चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों से सुख-दुःखादि का ग्रहण नहीं होता। अतः करणान्तर मानना पड़ता है, जिसका नाम 'मन' है।

प्रति शरीर में मन एक है—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः॥ न्याय० ३। २। ५८॥

यदि प्रत्येक शरीर में अनेक मन होते तो उनका अनेक इन्द्रियों के साथ युगपत् संयोग होने से अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक क्षण में या एक समय में एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है, इससे स्पष्ट है कि एक शरीर में एक ही मन है।

(प्रश्न) न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः॥ न्याय० ३। २। ५९॥

प्रत्येक शरीर में एक मन की बात ठीक नहीं है। जैसे मन के बिना ज्ञान का सम्भव नहीं, वैसे ही मन के बिना क्रिया सम्भव नहीं है। किन्तु एक साथ अनेक क्रियाएँ उपलब्ध होती हैं, अतः एक शरीर में अनेक मन मानने चाहिएं। जैसे—

'अयमध्यापकोऽधीते व्रजति कमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यारण्यजान् शब्दान्' अर्थात् यह अध्यापक पढ़ता है, जाता है, कमण्डलु को धारण करता है, देखता है, वन्य पशुओं के शब्द सुनता है।' इस वाक्य में पठनादि क्रियाएँ विना क्रम के एक साथ हो रही है, अतः प्रति शरीर में अनेक मन मानने चाहिएं।

(उत्तर) अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसंचारात्॥
न्याय० ३। २। ६०॥

जिस काष्ठ में दोनों तरफ अग्नि लगी हो, उसे 'अलात' कहते हैं। और जब उसे वेग से घुमाया जाए, तब चक्र की भांति दिखाई देता है। शीघ्रता के कारण दोनों किनारों का क्रम परिलक्षित नहीं होता। यथार्थ में क्रम अवश्य होता है। वैसे ही क्रिया तथा ज्ञानों में भी एक पूर्वापर का क्रम अवश्य होता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रहण में पर्याय से क्रम होता है किन्तु शीघ्रता के कारण क्रम परिलक्षित नहीं होता। अतः एक समय में अनेक क्रिया या ज्ञान न होने से मन प्रत्येक शरीर में एक ही है, अनेक नहीं।

मन का कार्यक्षेत्र शरीरान्तर्गत ही है—

न अन्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ न्याय० ३।२।२६॥

शरीर से बाहर आत्मा के संस्कार विशिष्ट प्रदेशों से मन का संयोग नहीं होता, क्योंकि मन का कार्यक्षेत्र शरीर के अन्दर ही है। इस पर पूर्व-पक्षी कहताहै —

साध्यत्वादहेतुः ॥ न्याय० ३।२।२७॥

सिद्ध ही हेतु होता है, साध्य नहीं। मन का अन्तः-शरीर वृत्तित्व साध्य होने से हेतु नहीं। इसका समाधान करते हैं कि—

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ न्याय० ३।२।२८॥

यह जीवात्मा किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा से मन को स्मरणव्यापार में लगाता है, और जब तक स्मृति नहीं आती, तब तक मन को लगाए रखता है। मन के ये कार्य शरीर के अन्दर आत्मसंयोग से ही सम्भव हैं। आत्मा और मन के संयोग से दो प्रकार का प्रयत्न होता है— शरीर का धारण करना और मन को प्रेरणा करना। यदि मन की शरीर से बाहर भी गति होती हो तो शरीरधारक प्रयत्न के अभाव में जीवित शरीर का गुरु होने के कारण पतन हो जाना चाहिए। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि मन शरीरान्तर्गत ही कार्य करता है। इस पर पूर्वपक्षी कहता है—

न तत् आशुगतित्वान् मनसः ॥ न्याय० ३।२।२९॥

मन आशुगति वाला है। वह शरीर से बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर कार्य करता है। वह शरीर से जब बाहर होता है तब शरीर का गुरुत्व होने के कारण पतन क्यों नहीं होता। इसका उत्तर स्पष्ट है कि द्रुतगति वाला होने से शीघ्र ही आत्मा से सम्पर्क कर लेता है। अतः

शरीर से बाहर भी मन का क्षेत्र मानने पर कोई दोष नहीं आता। इसका उत्तर देते हैं—

न—स्मरणकालानियमात् ॥ न्याय० ३।२।३०॥

मन के आशुगतिक होने पर भी शरीरधारण सम्भव नहीं हो सकता। यदि मन का क्षेत्र शरीर से बाहर भी माना जाए। क्योंकि स्मरणकालस्य अनियमात्' स्मरण काल के निश्चित न होने से। सब की स्मृति शीघ्र ही हो जाती हो, तब तो पूर्वपक्षी की बात सम्भव भी थी, किन्तु बाहर भी किसी की स्मृति चिर से होती है, किसी की चिरतर, और किसी की चिरतम। चिरतम स्मृति वाली वस्तु के लिए मन चिर पर्यन्त शरीर से बाहर रहने पर शरीरधारक प्रयत्न के अभाव में शरीर का पतन हो जायेगा। अतः शरीर से बाहर गमन मन का कदापि मान्य नहीं हो सकता।

और यह शरीर भोग का आश्रय है। स्मृति भी भोग्य है। स्मृति को भी शरीर के अन्दर ही मानना अत्यावश्यक है। यदि शरीर से बाहर भी आत्मा व मन का संयोग सम्भव हो और स्मृति भी हो सके तो शरीर भोगायतन है, यह पक्ष त्रुटिपूर्ण हो जायेगा क्योंकि भोग तो शरीर से बाहर भी होने लगेगा। अतः मन का शरीर से बाहर गमन कदापि सम्भव नहीं है।

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥
न्याय० ३।२।३१॥

शरीर से बाहर गए मन का शरीरान्तर्गत आत्मा के साथ संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि मन की गति तीन प्रकार से ही सम्भव है—आत्मा की प्रेरणा से, यदृच्छा से (आकस्मिक) अथवा ज्ञाता से (ज्ञान विशिष्ट होने से)। आत्म प्रेरणा संकल्प से ही सम्भव है। शरीर से बाहर मन से आत्मा का संयोग कदापि नहीं हो सकता। यदृच्छा से भी मन की प्रेरणा नहीं हो सकती। क्योंकि यह नियम है कि कार्यमात्र सकारण होता है, निष्कारण नहीं। और ज्ञाता से भी प्रेरणा नहीं हो सकती, क्योंकि मन ज्ञानविशिष्ट नहीं है। अतः मन की शरीर से बाहर गति सम्भव नहीं है।

न्याय दर्शन ३।२।६१ सूत्र पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—मनसः खलु भोः सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्।

अर्थात् मन शरीर में रहता हुआ ही इन्द्रियों से विषयोपलब्धि करत

है, शरीर से बाहर नहीं। अतएव 'मन' को अन्तःकरण शास्त्रों में कहा गया है। यदि यह बाहर तथा भीतर दोनों स्थानों पर कार्य कर सकता, तो अन्तःकरण नाम ही सार्थक नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि मन का कार्यक्षेत्र शरीर में ही है, बाहर नहीं।

मन चेतन नहीं—

मन आत्मा के आधीन न होने से स्वभावतः स्वतन्त्र नहीं है। आत्मा चेतन द्रव्य है। मन चेतन है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दर्शन-कार कहते हैं—

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥
(न्याय० ३। २। ४०)

इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुखदुःख-ज्ञान आत्मा के लिंग कहे हैं, अतः ये मन, शरीर तथा इन्द्रियों के लिंग नहीं हो सकते। इस सूत्र के भाष्य में वात्स्या-यन मुनि लिखते हैं—

परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु।
प्रयत्नवशात् प्रवर्त्तन्ते, चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युः ॥

भूत=शरीर, इन्द्रिय तथा मन जीवात्मा के आधीन हैं। आत्मा की प्रेरणा से धारणादि क्रियाओं के लिए मनादि की प्रवृत्ति होती है। यदि ये चेतन होते तो स्वतन्त्र होते और जीवात्मा की प्रेरणा के बिना कार्य करते। और अकृताभ्यागम अर्थात् अन्य के किए कर्म का अन्य भोक्ता नहीं हो सकता। यदि मनादि चेतन हों तो, इनके कर्मों का सुखदुःखादि फल आत्मा क्यों भोगे ? अतः मन को चेतन मानने पर अकृताभ्यागम दोष भी प्राप्त होता है। मनादि को अचेतन मानने पर तो ये जीवात्मा के साधन हैं। और साधनों से किये कर्य का फल कर्त्ता ही भोगता है। जैसे कोई तलवार से किसी को मार देता है, तो उसका दण्ड मारने वाले को ही मिलता है, तलवार को नहीं। अतः मन अचेतन द्रव्य है।

मन का गुण ज्ञान नहीं—

ज्ञान आत्मा का गुण है, मन का नहीं। इस बात की सिद्धि करते हुए दर्शनकार लिखते हैं—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ न्याय० ३। २। १९॥

एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना ही मन का लिंग है। युगपत् ज्ञेय

की अनुपलब्धि से अनुमान होता है कि अन्तःकरण=मन ज्ञान का कारण है। ज्ञान मन का गुण नहीं। यदि ज्ञान मन का गुण हो, तो समस्त शरीर में होने वाले सुखादि के ज्ञान के लिए मन को विभु मानना पड़ेगा। और विभु मन का सब इन्द्रियों से युगपत् सम्बन्ध होने से युगपत् ज्ञान होने लगेंगे। और मन अणु है, युगपत् ज्ञान होना प्रत्यक्ष विरुद्ध है, अतः ज्ञान आत्मा का ही गुण है, मन का नहीं।

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

वशी ज्ञाता, वश्यं करणम्। ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः। घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावादनुमीयते अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं स्मृतिश्चेति।

अर्थात् ज्ञान ज्ञाता=आत्मा का गुण है, क्योंकि ज्ञाता ही वशी है और करण कर्त्ता के वश्य होता है। यदि मन का ज्ञान गुण माना जाए, तो वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता। (जैसे घटोत्पादनादि क्रिया कर्त्ता की ही होती है, दण्डादि की नहीं, वैसे ज्ञान क्रिया भी ज्ञाता आत्मा का ही होती है। जैसे घ्राणादि इन्द्रियां जिसके साधन हैं, उस ज्ञाता=आत्मा को ही गन्धादि का ज्ञान होता है, उससे अनुमान होता है—वैसे ही अन्तःकरण =मन के साधन होने से आत्मा को सुखादि का ज्ञान तथा स्मृति होती है। अतः मन ज्ञान साधन है, ज्ञानगुण वाला नहीं।

स्मृति के कुछ मुख्य कारण—

स्मृति मन का गुण है। यह स्मृति किन २ कारणों से उत्पन्न होती है, उनमें से कुछ सत्ताईस करण दर्शनकार ने (न्याय० ३।२।४३। सूत्र में) इस प्रकार गिनाए हैं—

(१) प्रणिधानम्=स्मरण करने की इच्छा से मन को एकाग्र करना।

(२) निबन्ध=एक ग्रन्थ में क्रम से वर्णित विषयों में से अन्य को स्मरण करना।

(३) अभ्यासः=एक ही पदार्थ का बार २ चिन्तन करना।

(४) लिंगम्=यह चार प्रकार का होता है—संयोगी, समवायी,—एकार्थ-समवायी, और विरोधी। संयोगी=जैसे अग्नि-धूम के संयोग सम्बन्ध को जानकर, धूम को देखकर अग्नि को स्मरण करना। समवायी=

अवयव को देखकर अवयवी को स्मरण करना। एकार्थ समवायी=जैसे रूप व स्पर्श किसी में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, तो एक को देखकर दूसरे का स्मरण होना। विरोधी=अभूत (भावी) दुःखादि से भूत का स्मरण होना॥

(५) लक्षणम्=पशुआदि के चिह्न को देखकर उसके स्वामी का स्मरण करना।

(६) सादृश्यम्=चित्र को देख कर चित्रवान् का स्मरण करना।

(७) परिग्रहः=स्व (ऐश्वर्य) से स्वामी, या स्वामी से स्व का स्मरण करना।

(८) आश्रयः=ग्रामनायक से सके आधीन वस्तु की स्मृति।

(९) आश्रित=आधीन वस्तु से आश्रय=ग्रामनायकादि का स्मरण होना।

(१०) सम्बन्ध—अन्ते वासी से गुरु या पुत्र से पिता का स्मरण करना।

(११) आनन्तर्य=इति आदि समाप्ति सूचक शब्दों को देखकर दूसरे का स्मरण होना।

(१२) वियोग=वियोगी को देखकर वियुक्त वस्तु का स्मरण करना।

(१३) एककार्य=एक वीणा वादक को देखकर दूसरे वीणावादक का स्मरण होना।

(१४) विरोध=परस्पर विरोधियों में से एक को देखकर दूसरे का स्मरण होना।

(१५) अतिशय=अतिशय जिसकी अपेक्षा हो, उसका स्मरण करना।

(१६) प्राप्ति=जिससे कुछ लेना होता है, उसका बार २ स्मरण करना।

(१७) व्यवधान=तलवार की म्यान (कोश) को देखकर तलवार की स्मृति इत्यादि।

(१८-१९) सुख-दुःख को देखकर उसके हेतु का स्मरण करना।

(२०-२१) इच्छा व द्वेष से इष्ट या द्विष्ट का स्मरण करना।

(२२) भय से जिससे डरता है, उसका स्मरण करना।

(२३) अर्थी (याचक)=जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसका स्मरण करना।

(२४) क्रिया=कार्य को देखकर कर्त्ता की स्मृति। जैसे रथ को देखकर रथ-रचयिता की स्मृति।

(२५) राग जिसके प्रति होता है, उसका स्मरण करना।

(२६) धर्म से पूर्वजन्म का स्मरण करना।

(२७) अधर्म=पूर्वानुभूत दुःख के साधनों का स्मरण करना।

मन अणु है, विभु नहीं—

मन शरीर में अणु है, मध्यम परिमाण वाला है अथवा विभु है? इस विषय में भी अनेक मतभेद सम्मुख आते रहते हैं। न्याय दर्शन में मन को स्पष्ट रूप से अणु माना है। न्यायदर्शनकार लिखते हैं—यथोक्तहेतुत्वाच्चाऽणु ॥ न्याय० ३।२।६१॥ यथोक्त हेतु,अर्थात् ज्ञान व क्रिया युगपत् न होने से मन अणु है। यदि मन अणु न होता, तो एक क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ संयोग होने से अनेक ज्ञान या क्रियाएं होनी चाहिएं। क्योंकि ऐसा नहीं होता, अतः मन अणु है। इस विषय में अन्यत्र भी प्रसंगवश बुद्धि परीक्षा में मन को एक और अणु मानते हुए लिखा है—

'अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यत इति
क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ न्याय०। ३। २। ६॥

अर्थात् मन का संयोग इन्द्रियों के साथ क्रम से होने के कारण युगपत् अनेक ज्ञान व क्रियाएँ नहीं होतीं। अतः मन अविभु=अणु तथा एक है।

विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः।।
न गत्यभावात् ॥ न्याय० ३। २। ८॥

यदि अन्तःकरण मन विभु हो तो इन्द्रियों के साथ क्रम से मन का संयोग न हो, किन्तु विभुत्व के कारण सभी इन्द्रियों के साथ संयोग होना चाहिए। और फिर तो अनेक ज्ञान युगपत् होने लगें। किन्तु ऐसा न होने से मन विभु नहीं है, अणु ही है। मन अणु होने में यह भी प्रबल प्रमाण है कि यदि मन विभु हो, तो विभु की गति सम्भव नहीं है। और सदा ही सभी इन्द्रियों के साथ मन के संयोग हो जाए। और फिर वही दोष आ जायेगा कि युगपत् अनेक ज्ञान होने लगेंगे। किन्तु ऐसा प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं है। अतः मन विभु नहीं है। न्याय के १। १। १६

सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि 'निमित्तान्तरम् अव्यापि (मनः)' कहकर मन को अणु ही मानते हैं, विभु=व्यापक नहीं।

सांख्य-दर्शन में मनोविज्ञान

महर्षि कपिल ने सांख्यदर्शन में मन सम्बन्धी निम्न बातों पर विचार किया है—

(१) मन की उत्पत्ति।
(२) मन के विषय में एक भ्रान्ति।
(३) बाह्यान्तर भेद से तेरह करण।
(४) इन्द्रियों में मन की प्रधानता।
(५) बुद्धि का लक्षण और उसके कार्य।
(६) अहंकार का लक्षण और उसके कार्य।
(७) मन इन्द्रिय है।
(८) इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं।
(९) इन्द्रियाँ जीवात्मा के करण हैं।
(१०) अन्तःकरणों का विशेष व सामान्य व्यापार।
(११) करणों का व्यापार क्रमिक होता है।
(१२) समस्त करण पुरुष के अर्थ हैं।
(१३) मनादि इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं।
(१४) मनादि का प्रकाशक आत्मा है।
(१५) अन्तःकरण के सुखादि धर्म नहीं हैं।
(१६) अन्तःकरण सुषुप्त्यादि का कारण है।
(१७) अन्तःकरण ज्ञानादि का साधन है।
(१८) मन की वृत्तियां।
(१९) मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय।
(२०) मन की वृत्तियों का स्वरूप।
(२१) मन सूक्ष्म शरीर का एक घटक है।
(२२) मन का परिमाण।
(२३) सूक्ष्म-शरीर का परिमाण।

(२४) अविवेक का आश्रय अन्तःकरण है।
(२५) क्या मन नित्य है ?
(२६) बुद्धि की प्रधानता।
(२७) बुद्धि आदि में कर्तृत्व व्यपदेश क्यों ?

हमने यहाँ सांख्यदर्शन के मन और मन से सम्बद्ध विषयों का संग्रह किया है। सांख्य के अनुसार मन प्रकृति का विकार होने से जड़ है। मन इन्द्रिय है। सभी एकादश इन्द्रियाँ अहंकार के विकार हैं। मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक होने से अणु परिमाण वाला तथा विवेक होने तक जन्म-जन्मान्तरों में पुरुष के साथ जाता है। सांख्य के मत में अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार तीनों को माना है। मन की क्लिष्टाक्लिष्ट पाँच वृत्तियां मानी हैं और उनके निरोध के उपाय भी बताए हैं। 'मनः' सम्बन्धी इस संग्रह से जहाँ अनेक मिथ्या धारणाएँ मिथ्या सिद्ध होंगी, वहाँ पाठक दर्शन के गहन विषय का सरलता से मनन भी कर सकेंगे।

मन की उत्पत्ति—

सांख्यदर्शन में मनादि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कपिल मुनि लिखते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम् ॥ सांख्य० ॥ १ ॥ ६१ ॥

अर्थात् सत्त्व, रजस्, तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है, प्रकृति से महत्त्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पाञ्च तन्मात्राएँ, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय एवं मन की उत्पत्ति होती है।

इस सूत्र का अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने 'उभयमिन्द्रियम्' से ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त मन का भी ग्रहण किया है, किन्तु दूसरे व्याख्याकार इस बात को नहीं समझ सके। प्रायः सभी टीकाकार 'मन' अन्तरिन्द्रिय का ग्रहण नहीं करते। सांख्यदर्शन के पूर्वापर सूत्रों पर विचार करने से महर्षि दयानन्द की व्याख्या सुसंगत तथा प्रकरणानुकूल है। सूत्रकार ने आगे अहंकार की व्याख्या में लिखा है—

(क) एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥ सां० २ ॥ १७ ॥

ग्यारह इन्द्रियां, (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय तथा मन) और पाञ्च तन्मात्राएँ अहंकार के कार्य हैं।

(ख) सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारत् ।। सा० २ । १८ ।।

अर्थात् वैकृत अहंकार से सत्त्वप्रधान ग्यारह इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं।

(ग) कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ।। सां० २ । १६ ।।

अर्थात् ५ कर्मेन्द्रियों तथा ५ ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवां अन्तरिन्द्रिय मन है। मनुस्मृति में भी कहा है—एकादशं मनोज्ञेयम् (मनु० २।९२)

(घ) आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ।। सां० २ । २० ।।

अर्थात् ये उपर्युक्त ग्यारह इन्द्रियां अहंकार से उत्पन्न होने के कारण भौतिक नहीं हैं।

उभयात्मकं च मनः ।। सां० २ । २६ ।।

मन तो दोनों कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों में वृत्तिवाला होने से उभयात्मक कहलाता है।

अतः महर्षि दयानन्द की व्याख्या सांख्य दर्शन की साक्षी से सुसंगत है। और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अहंकार के कार्य कौन कौन से हैं। इसी बात को सूत्रकार ने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है—

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य ।। सां० १ । ६४ ।।

अर्थात् बाह्येन्द्रिय, आन्तर-इन्द्रियों से तथा पाञ्चतन्मात्राओं से अहंकार का ज्ञान होता है। क्यों कि ये अहंकार के कार्य हैं, अतः अपने उपादान करण का अनुमान कराते हैं।

मन के विषय में एक भ्रान्ति—सांख्यदर्शन के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हे कि 'मन' अहंकार का कार्य है। किन्तु

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।। सां० १ । ७१ ।।

अर्थात् प्रकृति का जो प्रथम कार्य महत्तत्त्व है, उसे मन कहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा है—'प्रकृतेर्महान्' प्रकृति से महत्तत्व की उत्पत्ति होती है।

यहां 'मन' को प्रकृति का प्रथम कार्य कहा है। अतः पाठक सन्देह ग्रस्त हो जाता है कि मन क्या है ? क्या मन अविकारिणी प्रकृति का कार्य है ? अथवा प्रकृति के विकारभूत अहंकार का कार्य है ! महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में 'महत्तत्त्व' का अर्थ 'बुद्धि' किया है। इस सूत्र में प्रकृति के प्रथम कार्य महत् को मन कहा है। यहाँ 'मन' से

अन्तरिन्द्रिय अर्थ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि वह तो अहंकार का कार्य माना गया है। अतः यहां 'मनः' शब्द का धात्वर्थ के अनुसार 'अबोधन' निश्चय करना अथवा अध्यवसाय रूप अर्थ लेकर 'बुद्धि' अर्थ ही ठीक है।

बाह्यान्तरभेद से तेरह करण—

करणं त्रयोदशविधिमवान्तरभेदात् ॥ सां० २। ३८॥

अवान्तरभेद से तेरह प्रकार के करण होते हैं। उनमें बुद्धि, अहंकार, तथा मन अन्तःकरण हैं और नेत्रादि पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वागादि पाञ्च कर्मेन्द्रियाँ, ये दश बाह्य करण हैं।

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ॥ सां० २। ३६॥

जैसे काष्ठादि फाड़ने के लिए कुठार (कुल्हाड़ा) कारण होता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी आत्मा के साधकतम होने से करण हैं[1]।

इन्द्रियों में मन की प्रधानता—

द्वयोः प्रधानं मनः लोकवद् भृत्यवर्गेषु ॥ सां० २। ४०॥

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में उभयवृत्ति वाला मन प्रधान होता है। जैसे लोक में भृत्यों में अप्रधान-प्रधान होते हैं, वैसे ही मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में प्रधान है।

अव्यभिचारात् ॥ सां० २। ४१॥

इन्द्रियों का कोई भी व्यापार मन के संयोग के बिना नहीं हो सकता। और कोई भी इन्द्रिय मन का त्याग या उल्लंघन नहीं कर सकती। अतः मन प्रधान है।

तथाऽशेषसंस्काराधारत्वात् ॥ सां० २। ४२॥

और मन समस्त संस्कारों का आधार है। इन्द्रियाँ जो भी कर्म करती हैं, उसके सब संस्कार मन में ही स्थान बनाते हैं। अतः मन की मुख्यता है।

स्मृत्याऽनुमानाच्च ॥ सां० २। ४३॥

---

१. द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥ सां० २। २६॥

अर्थात् रूपादि के ग्रहण में आत्मा दृष्टादि रूप है, और इन्द्रियाँ आत्मा के प्रति करणभाव से साधनादि होती हैं।

और स्मृति के अनुमान से भी मन की मुख्यता है। स्मृति बिना संस्कार के सम्भव नहीं है। जैसे कहा है—'आत्म-मनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः' (वैशे० ९।२।६) संस्कार से स्मृति होती है और संस्कारों का आधार मन है।

सम्भवेन्न स्वतः ॥ सां० २।४४ ॥

बिना संस्कार के स्मृति अपने आप सम्भव नहीं है और संस्कार मन के बिना स्थिर नहीं हो सकता। बाह्येन्द्रियों का कार्य तो विषय का प्रत्यक्ष करना ही है। अतः करणों में मन प्रधान है।

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ॥ सां० २।४५ ॥

तेरह करणों में गौण मुख्यभाव अपेक्षाकृत है। यद्यपि करणत्व सब में समान है, किन्तु विशेष व्यापार से प्रधान-गौण भाव कहा गया है।

तत्कर्मार्जितत्वात् तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ॥ सां० २।४६ ॥

जैसे लोक में किरायादि देकर मोटरादि पुरुष के लिए साधन होते हैं, वैसे ही पुरुष के कर्मों से अर्जित समस्त करणों की प्रकृति पुरुष के अर्थ साधन करने के लिए ही होती है।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवत् ॥ सां० २।४७ ॥

समस्त करण पुरुष के अर्थ साधन कर्म में समान होने पर भी अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि अर्थात् मन की प्रधानता है। जैसे लोक में राजा का मुख्यमन्त्री दूसरे सभासदों की अपेक्षा अन्तरंग होने से मुख्य होता है, वैसे ही आत्मा के अन्तरंग होने से बुद्धि अर्थात् मन मुख्य है।

बुद्धि का लक्षण और उसके कार्य—

अध्मवसायो बुद्धिः ॥ सां० २।१३ ॥

सांख्य में महत्तत्त्व का दूसरा नाम बुद्धि है। यह अध्यवसाय स्वरूप है। अध्यवसाय का अर्थ है—निश्चय। अतः निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।

तत्कार्यं धर्मादि ॥ सां० २।१४ ॥

सत्त्वप्रधान बुद्धि के कार्य हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यादि। और—

महदुपरागाद् विपरीतम् ॥ सां० २।१५ ॥

शरीर में रजोगुण या तमोगुण से प्रभावित बुद्धि के कार्य धर्मादि से विपरीत हो जाते हैं—अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्यादि।

अहंकार के लक्षण और उसके कार्य—

अभिमानो ऽहंकारः ॥ सां २। १६ ॥

इस शरीर में अभिमानवृत्ति को अहंकार कहते हैं। अर्थात् अहंकार का अभिमान करना व्यापार है।

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥ सां० २। १७ ॥

ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाञ्च तन्मात्राएँ अहंकार के कार्य हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति अहंकार से होती है। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

चरमोऽहंकारः ॥ सां० १। ७२ ॥

अहंकार महत्तत्त्व का कार्य है। सूत्र में महत्तत्त्व के बाद अहंकार की उत्पत्ति होने से उसे 'चरम' शब्द से कहा है।

मन इन्द्रिय है—

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥ सां० २। १९ ॥

अर्थात् पाञ्च कर्मेन्द्रियों और पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों के साथ गयरहवाँ आन्तर इन्द्रिय मन है।

इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं—सांख्य में लिखा है—

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥ सां० २। २३ ॥

इन्द्रियों के रहने के स्थान गोलकादि में इन्द्रिय प्रतीति भ्रान्तों को होती है। क्योंकि इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं। किसी भी इन्द्रिय का स्वयं अथवा किसी दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता।

उभयात्मकं मनः ॥ सां० २। २६ ॥

मन का सम्पर्क ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से होने के कारण मन उभयात्मक है। वाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है, अतः ये वाह्येन्द्रियां हैं, किन्तु मन बुद्धि, तथा अहंकार का (अन्तःकरण का) वाह्य विषय के साथ सीधा सम्पर्क नहीं होता। स्मृति आदि व्यापारों के समय (आन्तर विषयों में) मन का सीधा सम्बन्ध होने से मन आन्तर इन्द्रिय है।

इन्द्रियां जीवात्मा के करण हैं—

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥ सां० २ । २९ ॥

द्रष्टृत्वादि धर्म आत्मा के हैं, और इन्द्रियाँ आत्मा के करण हैं । जैसे इन्द्रियों का स्वरूप करण (साधन) होना है, वैसे ही जीवात्मा का स्वरूप द्रष्टा, श्रोता, भोक्ता, कर्त्तादि होना है।

अन्तःकरण का विशेष व साधारण व्यापार—

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥ सां० २ । ३० ॥

महत् (बुद्धि) अहंकार तथा मन इन तीनों अन्तःकरणों का अपना-अपना जो विशेष लक्षण है वही इनका असाधारण व्यापार है अर्थात् बुद्धि का अध्यवसाय करना, अहंकार का अभिमान करना, तथा संकल्प करना मन का विशेष व्यापार है। और

सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ सां २ । ३१ ॥

प्राणापानादि पाञ्च प्राण सभी तेरह करणों का साधारण व्यापार है। अर्थात् शरीर में प्राणापान-व्यान-समान तथा उदान से समस्त करणों की प्रवृत्ति होती है।

करणों का व्यापार क्रमिक होता है—

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥ सां० २ । ३२ ॥

इन्द्रियों का व्यापार क्रम से तथा बिना क्रम से भी होता है। क्रम का उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए—किसी वस्तु के सम्मुख होने पर चक्षु से उसका आलोचन मात्र होता है, मन उसके विषय में संकल्प करता है, पुनः अहंकार उसके सम्बन्ध की भावना करता है—और अन्त में बुद्धि उसका निश्चिय करती है।

और जैसे भ्रान्ति अथवा अन्धकार में कोई वस्तु देखी, यह चक्षु का व्यापार है। तत्पश्चात् मन में संकल्प-विकल्प हुआ कि यह चोर है या और कुछ, यह मन का व्यापार है। पुनः अपने साथ उसके सम्बन्ध की भावना होती है कि इससे मेरी हानि होगी या नहीं ? यह अहंकार का व्यापार है। अन्त में बुद्धि के व्यापार से निर्णय कर चोर को पकड़ता है अथवा भाग जाता है, यह इन्द्रियों का क्रमिक व्यापार का उदाहरण है। और जब जंगल में जाते हुए अचानक हिंस्र शेर को देखकर व्यक्ति भाग खड़ा होता है। ऐसे समय चक्षु, मन, अहंकार तथा बुद्धि का व्यापार सहसा प्रतीत

होता है। यथार्थ में होता यह भी क्रम से ही है। किन्तु शीघ्रता वश ऐसा आभास है कि इन व्यापारों में कोई क्रम नहीं है।

समस्त करण पुरुष के अर्थ—

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ॥ सां० २। ३६॥

अन्तःकरण तथा बाह्यकरण पुरुष के प्रयोजन के लिए हैं और पुरुषों के कर्म (अदृष्ट) का भोग कराते हैं।

धेनुवद् वत्साय ॥ सां०। २। ३७॥

जैसे गाय बछड़े के लिए दूधस्राव के लिए प्रवृत्त होती है, वैसे ही करण पुरुष के प्रयोजन के लिए प्रवृत्त होते हैं।

मनादि इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं—

(क) न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः ॥
सां० ५। ८४॥

मनादि इन्द्रियाँ पृथवी आदि भूतों से उत्पन्न नहीं होतीं क्योंकि ये सब अहंकार से उत्पन्न होती हैं। जैसा कि कहा भी है—'एतस्माज्ज्ञायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'। (मुण्डको० २। १। ३)

(ख) न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ॥ सां० ५। १०६॥

शरीर भेद होने पर भी या मनुष्य से भिन्न शरीरों में भी इन्द्रियों का उपादान कारण अहंकार ही है, इससे भिन्न दूसरा नहीं। जैसे इस जन्म में हमारी इन्द्रियों का अहंकार कारण है, वैसे ही दूसरे जन्मों में भी।

(ग) निमित्तव्यपदेशात् तद् व्यपदेशः ॥ सां० ५। ११०॥

अन्य दर्शनकार जैसे न्याय में (न्याय० १। १। १२) घ्राण रसन...... भूतेभ्यः, इन्द्रियों को भूतों का कार्य माना है, वह इन्द्रियों के द्वारा उस-उस पृथिवी आदि गुणों को ग्रहण करने के कारण ही कहा गया है। यथार्थ में इन्द्रियां भूतों का कार्य नहीं हैं।

(घ) आहंकारित्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥ सां० २। २०॥

इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से होती है, पृथिव्यादि भूतों से नहीं।

इन्द्रियां विषय को ही प्रकाशित करती हैं—

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥ सां० ५। १०४॥

इन्द्रियाँ अप्राप्त का प्रकाश नहीं करती हैं। जो अप्राप्त अथवा दूरस्थ शब्द या रूप को प्रकाशित करती हैं, ऐसी प्रतीत होती है, वह यथार्थ नहीं। यदि यह मान लिया जाए कि इन्द्रियाँ अप्राप्त को भी प्रकाशित करती हैं, तो सब स्थानों तथा सब कालों के विषयों की प्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा न होने से इन्द्रियां प्राप्त को ही प्रकाशित करती हैं ।

मनादि का प्रकाशक आत्मा है—

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥ सां० ६ । ५० ॥

पुरुष (जीवात्मा) जड़ से भिन्न चेतन स्वरूप है, और वह जड़ अन्तःकरण को प्रकाशित करता है, अतः जो भी ज्ञानेन्द्रिय तथा मनादि में ज्ञान का प्रकाश प्रतीत होता है, वह आत्मा के कारण है, स्वतः नहीं।

मन (अन्तःकरण) के सुखादि धर्म नहीं—

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥ सां० १ । १७ ॥

सुखादि भोगों को आत्मा से भिन्न मनादि का धर्म मानने पर संसार में विविध भोग न हो सकें। संसार में देखा जाता है कि कुछ प्राणी बहुत सुखी हैं, और कुछ महा दुःखी हैं। यदि अन्य के किए कर्म का फल अन्य भोगने लगे, तो संसार में उपलब्ध विचित्रता नहीं मिल सके। अतः स्पष्ट है, कि सुखादि मन के धर्म नहीं हैं, प्रत्युत सुखादि भोगने में आत्मा के मनादि साधन हैं। 'चिदवसानो भोगः' (सां० १ । १०४)सूत्र के अनुसार भी सुखादि का भोग चेतनात्मा ही करता है।

अन्तःकरण सुषुप्ति आदि का कारण है—

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥ सां० १ । १४८ ॥

सुषुप्ति आदि दशा में जीवात्मा साक्षी होता है। अन्यथा मैं सुख से सोया' इत्यादि प्रतिभान न हो सके। किन्तु सुषुप्ति दशा में अन्तःकरण का व्यापार होता है। यह अन्तःकरण की वृत्ति सुषुप्त दशा में आत्मा के सान्निध्य से व्यापार करती है यथार्थ में बाह्येन्द्रियों के तमोगुण के आवृत होने तथा कार्योन्मुख न होने का नाम ही सुषुप्ति है।

अन्तःकरण ज्ञानादि का साधन है—

ज्ञानादि की अनुभूति अन्तःकरण को नहीं होती। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं—

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥
सां० १ । ९९ ॥

जैसे लोहे में अग्नि के सम्पर्क होने पर दाहकता की प्रतीति होती है, यथार्थ में दाहक गुण अग्नि में होता है, लोहे में नहीं। वैसे चेतनात्मा के सम्पर्क से जड़ अन्तःकरण प्रकाशित हो जाता है। अर्थात् आत्मा के सम्पर्क से ही अन्तःकरण में ज्ञानादि के ग्रहण का सामर्थ्य प्राप्त होता है, स्वतः नहीं। क्योंकि अन्तःकरण अचेतन है।

मन की वृत्तियाँ—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च ॥ सां० २ । ३३ ॥

मन की पाञ्च प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। इनके दो भेद हैं—क्लिष्ट अर्थात् क्लेश देने वाली और अक्लिष्ट=अर्थात् क्लेश न देने वाली। जीवात्मा इनके द्वारा ही सुख व दुःख भोगता है।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ॥ सां २ । ३४ ॥

अर्थात् मन की इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष का उपराग शान्त हो जाता है और वह पुरुष स्वस्थ=शुद्धान्तःकरण वाला हो जाता है।

योगदर्शन में (योग० १ । ६) भी अविद्यामूलक तथा संसाराभिमुख वृत्तियों को क्लिष्ट और उनसे भिन्न वृत्तियों को अक्लिष्ट माना है। इनकी व्याख्या भी योग के अनुसार ही समझनी चाहिए। अतः योगदर्शन के प्रकरण में इनकी व्याख्या की गई है।

मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय—

(१) धारणाऽऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥ सां० ३ । ३२ ॥

मन की वृत्तियों का निरोध धारणा से, आसन से, तथा स्वकर्म से होता है। इन निरोध के उपायों की व्याख्या निम्न है—

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥ सां ३ । ३३ ॥

मन की वृत्तियों का निरोध प्राण के छर्दि=वेग से वमन की तरह निकालने और रोकने से होता है। इसे ही निरोध=धारणा कहते हैं। सूत्र में निरोध शब्द धारणा का वाची है।

स्थिरसुखमासनम् ।। सां० ३ । ३४ ।।

जिसमें शरीर का स्थिर सुख हो, वैसा चेष्टा रहित शरीर सुख का सम्पादक 'ग्रासन' कहाता है।

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ।। सां ३ । ३५ ।।

स्वकर्म वह है कि जो ग्रपने-ग्रपने आश्रमों के लिए कर्त्तव्यकर्मों का विधान है, उनका ग्रनुष्ठान करना।

(२) वैराग्यादभ्यासाच्च ।। सां० ३ । ३६ ।।

मन की वृत्तियों का निरोध वैराग्य ग्रौर ग्रभ्यास से होता है। वैराग्य का ग्रर्थ है—ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् (यो० १ । १६ व्यास०) ग्रर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा=ग्रन्तिम सीमा को वैराग्य कहते हैं। वैराग्य से (सांसारिक विषयों के दोषदर्शन ग्रौर ज्ञान प्रसाद से) तथा ध्यानाभ्यास से वृत्तियों का निरोध होता है।

मन की वृत्तियों का स्वरूप—

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ।।
सां० ५ । १०७ ।।

इन्द्रियवृत्ति इन्द्रिय का न तो भाग है ग्रौर न गुण, किन्तु भाग ग्रौर गुणों से भिन्न वस्तु है। दूरस्थ विषय के प्रति इन्द्रियों की वृत्ति सम्बन्धार्थ विद्युत्-रश्मि की भांति सर्पित होती है। क्योंकि इन्द्रियों का भाग या गुण दूर सर्पित नहीं हो सकता। ये वृत्तियाँ विषय-प्राप्ति कैसे करती हैं—

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः ।। सां० । ५ । १०६ ।।

इन्द्रियों की वृत्तियाँ प्राप्तव्य विषयों को प्रकाशित करती हैं। इस लिङ्ग से वृत्तियों की सिद्धि होती है।

(सां० ५ । १०७) सूत्र में वृत्ति को इन्द्रियों का भाग व गुण से भिन्न माना है, तो वह विषिष्ट क्रिया होगी। क्या क्रिया द्रव्य से पृथक् होकर भी रह सकती है? इसका उत्तर देते हैं—

न द्रव्ये नियमस्तद्योगात् ।। सां० ५ । १०८ ।।

क्रिया द्रव्य में ही रहे, यह नियम नहीं है। क्रिया द्रव्य में भी रहती है। किन्तु द्रव्य के योग से द्रव्य से बाहर भी दूरस्थ पदार्थ तक ग्रपसर्पित होती है। जैसे सूर्य की तापक्रिया सूर्य में स्थित होकर भी दूर, दूरतर तथा

दूरतम अपसर्पित होती है, वैसे ही वृत्ति इन्द्रियों से पृथक् भी व्यापार करती है।

मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है—

सप्तदशैकं लिङ्गम् ।। सां० ३ । ६ ।।

सत्रह घटकों का लिङ्ग=सूक्ष्म शरीर होता है। अर्थात्—

पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और पाञ्च सूक्ष्मभूत (तन्मात्राएँ) ये १७ घटक सूक्ष्म शरीर के हैं।

इस लिङ्ग शरीर का एक देह से दूसरे देह में भी संसरण होता है—

पुरुषार्थं संसृतिर्लिगानां सूपकारवद्राज्ञः ।। सां० ३ । १६ ।।

लिङ्ग=सूक्ष्म शरीररूपकरणों का संसरण पुरुष के लिए होता है। यह संसरण आदिसर्ग से बराबर पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के निमित्त होता रहता है। जैसे पाचक राजा के लिए भोग की सामग्री जुटाता है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भोग के साधनों को प्रस्तुत करता है।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम् ।। सां ३ । ६ ।।

सर्वकाल में आत्मा दोनों प्रकार के शरीरों (सूक्ष्म तथा स्थूल) से आबद्ध रहता है। आदिसर्ग काल से प्रलय पर्यन्त सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध बना रहता है और प्रतिजन्म में स्थूल शरीर बदलता रहता है।

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः, इतरन्न ।। सां० ३ । ७ ।।

यह स्थूल शरीर माता पिता के संयोग से उत्पन्न होता है, दूसरा सूक्ष्म शरीर नहीं। सूत्र में 'प्रायशः' पद इसलिए पढ़ा है कि आदि सृष्टि में अयोनिज प्राणि-सृष्टि होती है।

आविवेकाच्च प्रवर्त्तनमविशेषाणाम् ।। सां० ३ । ४ ।।

अविशेष=सूक्ष्मभूतों से घटित सूक्ष्मशरीर विवेकज्ञान होने तक (मुक्ति तक) संसरण करता रहता है। और विवेकज्ञान होने पर यह संसरण समाप्त हो जाता है। अर्थात् मुक्ति में यह नहीं रहता।

तद् बीजात् संसृतिः ।। सां ३ । ३ ।।

आत्माओं का देहान्त में संसरण तद् बीजात्=सूक्ष्मशरीर से होता है। स्थूल शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर आत्मा को आवेष्टित किए बराबर उसके साथ बना रहता है।

वस्तुस्थिति यह है कि १७ तत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर आदि सर्गकाल से प्रत्येक आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है और उसका सम्बन्ध प्रलय आने तक अथवा मोक्ष जब तक न हो, तब तक बना रहता है। तत्त्वज्ञान यदि बीच में भी हो जाए, तो इस सूक्ष्मशरीर से भी छुटकारा मिल जाता है। इस प्रकार संसार की अति प्रलम्ब महायात्रा पर चले हुए आत्मा का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से बराबर बना रहता है। आत्मा इस सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है।

सांख्य के उपर्युक्त सूक्ष्मशरीर के विवेचन से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में जो कुछ सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध लिखा है, वह सब सांख्य का सिद्धान्त है। और इस सूक्ष्मशरीर के १७ घटक सूक्ष्म भूतों से निर्मित होते हैं, उनका विनाश वर्त्तमान शरीर के साथ नहीं होता।

इसीलिए यजुर्वेद के संकल्प सूक्त में मन को 'अमृत' कहा गया है। 'अमृत' का अभिप्राय शरीर के साथ नष्ट नहीं होना ही है। अतः जिन विद्वानों ने इसके विरुद्ध लिखा है अर्थात् कुछ मन को आत्मा की शक्ति मानते हैं, और कुछ यह भी कहते हैं कि मरने के बाद प्राकृतिक कोई वस्तु आत्मा के साथ नहीं जाती, वे सब भ्रान्ति में ही हैं। उन्हें सांख्यदर्शन के सूत्रों पर पुनः विचार करना चाहिए। सांख्यदर्शन में बहुत ही स्पष्ट कहा है—

उपभोगादितरस्य।। सां० ३। ५ ॥

अर्थात् सूक्ष्मशरीर से भिन्न स्थूलशरीर आत्मा के उपभोग के लिए होता है। अर्थात् स्थूल शरीर के बिना भोग नहीं हो सकता। किन्तु दूसरा १७ तत्त्वों का सूक्ष्म-शरीर आत्मा के जन्म-जन्मान्तरों में साथ रहता है। क्या सूक्ष्म-शरीर से ही धर्माधर्म कर्मफल का भोग नहीं हो सकता? इसका उत्तर सांख्यदर्शन में यह दिया है—

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ।। सां० ३। १२।।

स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्मशरीर से स्वतन्त्ररूप से कर्म-फल का भोग नहीं हो सकता। जैसे छाया या चित्र विना आश्रय के नहीं रह सकता वैसे ही स्थूल शरीर के विना कर्म-फल का भोग नहीं हो सकता। और—

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥

सां० ५। १०३ ॥

स्थूलशरीर में सूक्ष्मशरीर नहीं है, अथवा यह स्थूल शरीर ही है, यह सिद्धान्त नहीं है। क्योंकि-आतिवाहिक=एक देह से दूसरे देह की प्राप्ति में निमित्त सूक्ष्म शरीर भी अवश्य है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर के विना निराश्रित जीवात्मा एक देह से दूसरे देह में जाने में समर्थ नहीं होता[1]।

मन का परिमाण—

मन अणु परिमाण वाला है, इसको बताते हुए सांख्यदर्शनकार लिखते है—

अणुपरिमाणं तत् कृति श्रुतेः ॥ सां० ३ । १४ ॥

क्योंकि मन की उत्पत्ति शब्दप्रमाण से सिद्ध है। और वह मन अणु परिमाण वाला है।

इस सूत्र का अर्थ (सूक्ष्म शरीर परक) भी टीकाकारों ने लगाया है। यदि यह अर्थ भी माना जाए, तब भी मन व्यापक सिद्ध नहीं होता। अणु शरीर का एक घटक 'मन' विभु कदापि नहीं हो सकता।

यदि मन को महापरिमाण अथवा विभु माना जाए तो एक साथ सब इन्द्रियों के साथ संयोग न होने से युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहिए, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। इस प्रसंग में यह भी ध्यान

---

१. सूक्ष्म शरीर के १७ घटक हैं, या १८, इस विषय में टीकाकारों का परस्पर मतभेद है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में १७ घटकों का सूक्ष्मशरीर माना है। उसमें अहङ्कार को पृथक् नहीं माना है। साख्य-दर्शन के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने भी सूक्ष्मशरीर के १७ घटक ही बताए हैं। अहङ्कार को बुद्धि के ही अन्तर्गत माना है। वैदिक विद्वान् श्री स्वामी हरि प्रसाद ने भी १७ घटक माने हैं। सांख्यदर्शन के सूत्रार्थ के अनुसार भी 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' सूक्ष्मशरीर के १७ घटक ही सिद्ध होते हैं। श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने इस सूत्र के अर्थ में 'एकं लिङ्गम्' से महत्तत्त्व (बुद्धि) अर्थ लिया है। उनका कथन है कि महत्तत्त्व के प्रधान होने से पृथक् निर्देश किया गया है। उन्होंने 'लिङ्ग' का अर्थ महत्तत्त्व माना है। किन्तु इस अर्थ को मानने पर 'सूक्ष्मशरीर' किस पद का अर्थ होगा। इस पर स्वामी जी ने विचार नहीं किया। और सूत्रकार की शैली के अनुसार भी सत्रह घटक ही सिद्ध होते हैं, अन्यथा 'सप्तदशैकं च लिङ्गम्' ऐसा सूत्र बनाना चाहिए था। अतः महर्षि दयानन्द ने सांख्य के अनुसार ही १७ घटक माने हैं। उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। सम्पा०

रखना चाहिए कि मन को अणु परिमाण वाला अपेक्षाकृत ही कहा गया है। क्योंकि कार्यतत्त्व-परिमाण अपने मूल कारण की समानता नहीं कर सकता। जगत् के मूल उपादानतत्त्व—सत्त्व-रजस् तमस् अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मन का परिमाण उनकी अपेक्षा अवश्य कुछ स्थूल है। क्योंकि मन उनका कार्यद्रव्य है। तन्मात्राओं एवं अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा से ही मन को अणु समझना चाहिए।

मन के अणु होने की पुष्टि सांख्य में अन्यत्र भी की है—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षु-रादिवत् ॥ सां० ५।६५॥

मन की व्यापकता कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि कोई भी करण (किसी वस्तु का साधन) अथवा इन्द्रिय एकदेशी अथवा परिच्छिन्न ही हो सकते हैं, व्यापक (विभु) नहीं। मन भी अन्तःकरण है, वास्यादि (तक्षक का एक साधन बसूला) के समान अथवा मन इन्द्रिय है, चक्षुरादि के समान। मन की परिछिन्नता की पुष्टि के लिए सूत्रकार और भी कहते हैं—

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥ सां० ५।६६॥

वैदिक साहित्य में मन की गति का वर्णन है। जैसे यजुर्वेद में कहा है—(यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्।' (यजु० ३४।१) 'गच्छतीव च मनः' केनो० ४।५। इत्यादि स्थानों पर मन को क्रिया वाला कहा गया है। क्रियायुक्त वस्तु कदापि व्यापक नहीं हो सकती।

सूक्ष्म-शरीर का परिमाण—

अणु-परिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥ सां० ३।१४॥

लिङ्गशरीर (सूक्ष्म-शरीर) अणु-परिमाण वाला है। उसकी कृति=उत्पत्ति श्रुति से सिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि सूक्ष्म-शरीर व्यापक नहीं है, किन्तु एक देशी है। जब सूक्ष्म-शरीर ही व्यापक नहीं है, तो उसका एक घटक मन व्यापक कैसे हो सकता है? अतः मन भी एकदेशी है।

तदन्नमयत्वादिश्रुतेश्च ॥ सां० ३।१५॥

वह सूक्ष्म-शरीर अन्नमय है, यह श्रुति से सिद्ध है। जैसा कि कहा है—'अन्नमयं हि सौम्य! मनः।' (छान्दोग्य० ६।५।४) यह अन्न से अभिप्राय प्रकृति-जन्य से है अर्थात् सूक्ष्म-शरीर के सभी अवयव प्रकृति के

विकार हैं। अथवा इसका अभिप्राय यह है कि हम जो कुछ अन्न खाते हैं, उसके सूक्ष्म-भाग का सूक्ष्म-शरीर पर तुरन्त प्रभाव होता है। जैसा सतोगुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी हम भोजन करते हैं, वैसा ही (सूक्ष्म-शरीर के घटक) मनादि पर प्रभाव पड़ता है।

अविवेक का आश्रय अन्तःकरण है—

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥ सां० १। ५८ ॥

जीवात्मा (पुरुष) में अविवेक का प्रतिपादन वाणी से उपचाररूप में ही कहा जाता है, तात्त्विक रूप में नहीं। क्योंकि अविवेक की स्थिति चित्त=अन्तःकरण में होती है। और अन्तःकरण के द्वारा पुरुष अनुभव करता है। यहाँ 'चित्त' शब्द अन्तःकरण के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि सूत्रकार ने अन्तःकरण में मन, बुद्धि तथा अहंकार को ही माना है, चित्त को नहीं। योगदर्शन और सांख्य में परस्पर पर्याप्त समानता है। योग में भी अन्तःकरण के लिए 'चित्त' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

क्या मन नित्य है—

इस विषय में सांख्यदर्शन का स्पष्ट मत है कि—

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ सां० ५। ६८ ॥

प्रकृति तथा पुरुष से भिन्न सब अनित्य है। केवल समस्त जगत् का मूल उपादान कारण प्रकृति और चेतन पुरुष ही नित्य हैं और इनसे भिन्न सब अनित्य हैं। समस्त अचेतन जगत् प्रकृति का विकार होने से नित्य नहीं हो सकता। मन भी प्रकृति का विकार है अतः अनित्य है। मन की अनित्यता के विषय में सूत्रकार और भी स्पष्ट करके कहते हैं—

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटादिवत् ॥ (सां० ५। ७१)

अर्थात् जो वस्तु निर्भाग (निरवयव) होती है वह नित्य कही जा सकती है। क्योंकि वह किन्हीं अवयवों से मिलकर नहीं बनी है। मन निरवयव नहीं है क्योंकि मन सत्त्व-रजस्-तमस् अनेक तत्त्वों का परिणाम है। इसलिए घटादि पदार्थों के समान अनेकों के योग से परिणत हुआ मन नित्य नहीं हो सकता।

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥ सां० २। २२ ॥

मनादि इन्द्रियों की उत्पति तथा विनाश होता है, अतः इन्द्रियाँ अनित्य हैं। जैसा कि कहा है—

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।' ॥ मुण्डको० २।१॥

बुद्धि की प्रधानता—

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवत् ॥ सां० २।४७॥

पुरुष के भोगापवर्ग रूप प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए समस्त करणों का समान उपयोग होने पर भी बुद्धि का प्राधान्य स्वीकार किया जाता है। जैसे लोक में राजा के कर्मचारी अपने-अपने कार्यों में समान होने पर भी कार्य विशेष से गौण और मुख्य भाव से होते हैं। एक सैनिक तथा प्रधानमन्त्री की स्थिति में बहुत अन्तर है। उसी प्रकार समस्त करणों में बुद्धि की आत्मा के सान्निध्य होने से प्रधानता है।

बुद्धि आदि में कर्तृत्व व्यपदेश क्यों—

उपरागात् कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्यात् ॥ सां० १।१६४॥

द्रष्टा आत्मा में कर्त्तृत्व धर्म है। बुद्धि आदि में कर्त्तृत्व का व्यवहार चेतन आत्मा के सामीप्य से है। बुद्धि आदि में समस्त प्रवृत्तियों की प्रेरणा आत्म-चैतन्य से प्राप्त होती है क्योंकि अचेतन बुद्धि आदि में कर्त्तत्व कैसे हो सकता है?

योगदर्शन में मनोविज्ञान

योगदर्शन में मन तथा मन से सम्बद्ध निम्न विषयों पर विचार किया गया है—

(१) विद्याप्राप्ति में योग-मनोविज्ञान का महत्त्व।
(२) योगदर्शन का समस्त विषय वेदानुसृत है।
(३) योगदर्शन मनोविज्ञान ही है।
(४) योगाङ्गों की संक्षिप्त व्याख्या और उपयोगिता।
(५) योग की परिभाषा।
(६) चित्त की वृत्तियाँ।
(७) क्लेश क्या और कितने हैं?
(८) महर्षि दयानन्दकृत पञ्चक्लेशों की व्याख्या।

(९) बृत्तियों के निरोध का उपाय।
(१०) चित्त का स्वभाव।
(११) चित्त की पांच अवस्थाएँ।
(१२) इन्द्रिय-जय कैसे होता है ?
(१३) चित्त के विक्षेप (विघ्न)
(१४) चित्त के विक्षेपों को दूर करने के उपाय।
(१५) चित्त की एकाग्रता के साधन।
(१६) चित्त क्षणिक नहीं है।
(१७) चित्त प्रकृति का विकार है।
(१८) चित्त का व्यापार विवेकख्याति तक है।
(१९) आत्मा और अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं।
(२०) चित्त में वासनाएँ अनादिकाल से हैं।
(२१) चित्त-विमुक्ति कब होती है ?
(२२) अन्तःकरण की शुद्धि से लाभ।
(२३) चित्त के द्विविध-धर्म।
(२४) संस्कारों के भेद और उनका महत्त्व।
(२५) दूसरे के चित्त का ज्ञान सम्भव है।
(२६) चित्त का ज्ञान हृदय में होता है।
(२७) हृदय-स्थान कहाँ है ?
(२८) महर्षि दयानन्द कृत हृदय-स्थान की व्याख्या।
(२९) अस्थिर-चित्त वालों का योग क्या है ?
(३०) जन्म-जन्मान्तरों के चित्तस्थ संस्कारों में जाति, देश तथा काल की बाधा नहीं।
(३१) चित्तस्थ वासनाएँ अनादि हैं, तो मुक्ति कैसे ?
(३२) मोक्ष में वासनाओं का अभाव।
(३३) क्या चित्त ही सब कुछ है ?
(३४) चित्त में किस प्रकार की नित्यता है ?
(३५) बुद्धि अन्तःकरण की ही एक वृत्ति है।

विद्या-प्राप्ति में योग-मनोविज्ञान का महत्त्व—

योगदर्शन में प्रतिपादित मनोविज्ञान की शिक्षा में क्या आवश्यकता है ? क्या यह योगमार्ग पर्वत-गुफाओं में तपस्यारत योगियों के लिए ही है ?

इत्यादि प्रश्नों का उत्तर स्वतः ही मिल जाता है, जब हम योगदर्शन में प्रतिपादित विषय पर विहङ्गमदृष्टिपात करते हैं।

शिक्षा-प्राप्ति के दो ही प्रकार के साधन हैं—१. दृश्य, २. श्रव्य. और इन दोनों का सीधा सम्बन्ध मन से है। यदि मन (अन्तःकरण) मलीन तथा चञ्चल है, तो कदापि ये दोनों साधन शिक्षा प्राप्त नहीं करा सकते। योग क्या है? चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग माना है। उनके निरोध के उपाय, निरोध में आने वाले विघ्नों का वर्णन, तथा चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन योगदर्शन में किया है। और निरोध के उपायों में वैराग्य तथा अभ्यास को माना है। 'ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्' कहकर व्यास मुनि ने ज्ञान की पराकाष्ठा को वैराग्य माना है और अभ्यास के लिए लिखा है—'तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भवति' (व्यासभाः० यो० १। १४) अर्थात् तप, ब्रह्मचर्य, विद्या व श्रद्धा से दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक सेवन किया अभ्यास दृढ़भूमि होता है। और अविद्या को सब क्लेशों का मूल माना है। अतः स्पष्ट है कि चित की वृत्तियों का निरोध उन उपायों से ही सम्भव है, जो शिक्षाप्राप्ति में परमावश्यक हैं।

और पुस्तकस्थ अक्षराभ्यास का ही नाम विद्या नहीं है। शरीर में जिससे सर्वाङ्गीण विकास हो सके उसे विद्या कहते हैं। इस शरीर में भौतिक शरीर के अतिरिक्त अन्तःकरण, तथा आत्मा भी है। उनकी शुद्धि तथा उन्नति के लिए परमेश्वरोपासना अपरिहार्य है। अन्यथा वर्त्तमानकालीन एकाङ्गी शिक्षा के जो दुष्परिणाम हैं, वे हमारे सामने हैं। इसलिए इस योगदर्शन में प्रतिपादित मनोविज्ञान के विना सम्यग् ज्ञान, सुख व शान्ति कदापि सम्भव नहीं है। यह प्राचीन साक्षात् करने वाले आप्त ऋषि-मुनियों की सत्य-विद्या का प्रकाश है। जिसके विषय में कहा है—

'सा विद्या, या विमुक्तये' वही विद्या है, जो दुःखों से छुड़ा कर मोक्ष को प्राप्त करावे। शान्ति-सन्देश के उपदेष्टा, व विश्वगुरु कहलाने वाले भारतीय शिक्षा शास्त्रियों को अवश्य ही इस विस्मृत विद्या की तरफ ध्यान देना चाहिए।

योगदर्शन का समस्त विषय वेदानुसृत है—

योगदर्शन में ईश्वर-उपासना के लिए जिस योगमार्ग का उपदेश

किया गया है, वह सब सूत्ररूप में विद्यमान वेद-ज्ञान का ही विस्तृत रूप है। मोक्षप्राप्ति में प्रबल-बाधक अशुद्ध तथा वासनाओं से पूर्ण अन्तःकरण है। उसकी शुद्धि अविद्या या मिथ्याज्ञान को विद्या से दूर करने से होती है। वेद-मन्त्र में संक्षिप्त रूप में कितना सुन्दर वर्णन किया है—

युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्॥

यजु० १२। ६८॥

हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से, नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द का (वितनुध्वं) विस्तार करो। इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासना विधान से विज्ञानरूप, (बीजं) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ। तथा (गरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी द्वारा परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्त होओ। तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना-योग के फल को प्राप्त होवें और (नो नेदीयः) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल शीघ्र ही (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि (पक्वं) जो परिपक्व शुद्ध परमानन्द से भरा हुआ और मोक्षसुख को प्राप्त कराने वाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासना योग्य वृत्ति कैसी है? कि सब क्लेशों को नाश करने वाली और (सभराः) सब शक्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासना योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो।

(ऋ० भू० उपासना०)

उपर्युक्त वेद-मन्त्र में ध्यान का प्रकार, अन्तःकरण की शुद्धि, क्लेशों के भेद व क्लेशों के नाश तथा मोक्ष प्राप्ति के विषय में जिन बातों को संक्षेप में कहा है, योगदर्शन में उन्हीं को विस्तार से तथा अनुभूत करके लिखा गया है।

योगदर्शन मनोविज्ञान ही है—

योगदर्शन तो प्राचीन मनोविज्ञान ही है। इसकी विशेषता यह है कि इसके सम्यक् ज्ञान से मानव जीवन के पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि और चरमलक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग सरलतम और सुगम हो जाता है।

इसमें जो विविध अभ्यास बतलाए हैं, उनका पूर्णतः पालन करने से मनुष्य की सर्वाङ्गपूर्ण अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति हो जाती है। इस दर्शन के योगाङ्गों के अनुष्ठान की प्रक्रिया तो विशेष रूप से मनोविज्ञान से ही सम्बद्ध है।

इस दर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही योग माना है। चित्तवृत्ति के निरोध से इन्द्रियाँ वैसे ही वश में हो जाती हैं, जैसे शहद बनाने वाली रानी मक्खी से दूसरी मक्खियाँ बन्धी होती हैं। उसके उड़ने पर उड़ती और बैठने पर बैठती हैं। चित्त की वृत्तियों का निरोध कैसे हो सकता है? इसके उपायों के वर्णन से पूर्व चित्त की एकाग्रता के साधन-भूत योग के आठ अंगों का वर्णन किया गया है। अतः स्पष्ट है कि मनोविज्ञान के अध्येता को सर्वप्रथम योगाङ्गों को जानना आवश्यक ही नहीं, अपितु अपरिहार्य है। योगदर्शन के (२।२८) सूत्र के अनुसार योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि तथा अज्ञान का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

योगाङ्गों की संक्षिप्त व्याख्या और उनकी उपयोगिता—

(१) यम—मनोविज्ञान के अध्येता का यह प्रथम पाठ है। मन सुख-दुःख प्राप्ति का अन्तरिन्द्रिय साधन है। और सुख-दुःख प्राप्ति के दो साधन हैं—एक मनुष्य के अपने शुभाशुभ कर्मफल और दूसरा अन्य जीवों के कर्म। अतः मानव मात्र के दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं—कि वह अपने को भी अच्छा बनावे और दूसरों को भी। मनुष्य स्वयं कितना भी अच्छा हो, किन्तु उसके आस पास में रहने वाले यदि अच्छे नहीं हैं, तो उसे कभी भी सुख-शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती।❀ अपने मानसिक क्रियाकलापों को सन्तुलित रखने के लिए यह परमावश्यक है कि वह अपने चारों ओर के वातावरण को शान्तिसम्पन्न तथा स्वस्थ बनाए। अतएव प्राचीन काल में मनोविज्ञान के शिक्षार्थी पर्वतों की एकान्त व शान्त गुफाओं अथवा नदी तटों का आश्रय करते थे। योगाङ्गों में सर्वप्रथम ऐसे ही अङ्ग (यम) का स्थान है, जिससे शान्ति का वातावरण बन सके।

❀ आर्यसमाज के संस्थापक ने स्वयं इस विद्या का प्रत्यक्ष करके ही एक सार्वजनिक नियम बनाया था—'मनुष्य को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' सम्पा०

यम के अन्तर्गत पाञ्च बात हैं—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह।

अहिंसा=मन, वाणी तथा शरीर से किसी प्राणी के साथ वैर-भाव न करना।

सत्य=मन, वचन और क्रिया में सत्य को प्रतिष्ठित करना।

अस्तेय=मन, वचन और क्रिया से चोरी न करना।

ब्रह्मचर्य=इन्द्रियसंयम करते हुए वीर्य-रक्षा करना तथा अमोघ-वीर्य बनना।

अपरिग्रह=भोग के साधनों का लोभ से संग्रह न करना और सांसारिक विषयों तथा अभिमानादि दोषों से रहित होना।

इन पाञ्चों यमों के विषय में दर्शनकार लिखते हैं—

जाति-देशकालसमयानवच्छिन्नाःसार्वभौमा महाव्रतम् ॥

यो० २ पा० ३१ सूत्र ॥

अहिंसादि पाञ्चों यम जाति, देश तथा काल से भी न कटने वाले सार्वभौम महाव्रत हैं अर्थात् इनका पालन सब जगह, सब कालों तथा सब जातियों में करना चाहिए। मनु ने लिखा है—

यमान् पतत्यकुर्वाणः ॥

अर्थात् यमों का पालन न करने वाला पतित हो जाता है।

(२) नियम=शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥

(यो० २ पा० ३२ सू०)

नियम भी पाञ्च हैं—शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान।

शौच=अन्दर तथा बाहर की शुद्धि। बाहर की शुद्धि जलादि से तथा अन्दर की शुद्धि प्राणायामादि और लोभ-मोहादि के त्याग से होती है। अन्दर की शुद्धि से मन की पवित्रता, एकाग्रता तथा इन्द्रियसंयम में सहायता मिलती है।

सन्तोष=पुरुषार्थ से जो कुछ प्राप्त हो, उससे अधिक की इच्छा न करना। 'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' भावना सदा रखना। सन्तोष से तृष्णादि पर संयम रहने से अनुत्तम सुख मिलता है। इसलिए किसी ने सत्य कहा है—

'जब आए सन्तोप धन, सब धन धूलि समान ।।'

तप=सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों का सहन करना। और जीवन को नियमित और संयमित करना। इस तप से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि और अशुद्धि का क्षय होता है।

स्वाध्याय='ओम्' का श्रद्धापूर्वक सार्थक जप करना, और वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन करना। स्वाध्याय से इष्ट देवता से सम्पर्क तथा ज्ञानवृद्धि होती है।

ईश्वरप्रणिधान—परब्रह्म के प्रति अपार प्रेम तथा श्रद्धा रखना, और उसे ही परम गुरु मानते हुए अपने सरस्त कर्मों को उसके अर्पण करना। ईश्वर-प्रणिधान से सब कर्मों के ईश्वरार्पण करने से अहङ्कारादि की निवृत्ति, सकाम-भावना का त्याग तथा परब्रह्म के सान्निध्य से उसके गुणों के धारण करने से संप्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है।

इन पाञ्चों नियमों के पालन करने से ऐसी योग्यता प्राप्त हो जाती है कि मनुष्य अधर्माचरण से बच जाता है और पूर्वोक्त यमों के पालन में सहायता मिलती है।

(३) **आसन**—जिसमें स्थिर सुख हो, वह आसन कहलाता है। आसन के अनेक भेद-प्रभेद हैं और उनकी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता है। आसन सिद्धि से जहाँ मन को एकाग्र करने में सहयोग मिलता है वहाँ शारीरिक तथा मानसिक विविधि रोगों की निवृत्ति भी होती है। आसन-सिद्धि से 'द्वन्द्वाऽनभितः' द्वन्द्वों के आघात सहने की योग्यता प्राप्त होती है।

(४) **प्राणायाम**—योगाङ्गों में प्राणायाम की बड़ी उपयोगिता है। इससे इन्द्रियों तथा मन के दोष वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे धातुओं का मल अग्नि में रखकर हवा करने से नष्ट हो जाता है। और—

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।।

प्राणवायु के स्थिर न होने पर चित्त चञ्चल होता है और प्राण के निश्चल होने पर निश्चल हो जाता है। प्राणायाम से शारीरिक और मानसिक उन्नति भी होती है। रक्तशुद्धि होने से अनेक रोगों की निवृत्ति हो जाती है। और आयु-वृद्धि होती है। इस लिए प्राणायाम का फल बताते हुए दर्शनकार कहते हैं—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।। यो० पा० २ सू० ५२ ।।

प्राणायाम करने से प्रकाश का आवरण दूर करने और मन को एकाग्र करने की योग्यता उत्पन्न होती है।

(५) **प्रत्याहार**—इन्द्रियों का अपने विषयों से पृथक् होना और चित्त के स्वरूप का अनुसरण करना। प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं। आत्मा की शक्ति जो चित्त और इन्द्रियों द्वारा बहिर्मुखी हो रही थी, वह अब अन्तर्मुखी हो जाती है और आत्मिक शक्ति की वृद्धि होने से दुर्गुण तथा दुर्व्यसनों से साम्मुख्य करने का सामर्थ्य बढ़ जाता है।

(६) **धारणा**—चित्त का किसी देश में (नासिकाग्र, हृदयकमलादि में) बाँधना। जो शक्ति प्रत्याहार के अभ्यास से एकत्रित हुई है, उसे नाभि-चक्रादि स्थानों पर लगाना धारणा कहाती है।

(७) **ध्यान**—धारणा में ज्ञान का एक सा बना रहना अथवा चित्त स्थिर जहाँ किया हो, वहां ध्येय का ज्ञान एक जैसा बना रहे और दूसरा किसी प्रकार का ज्ञान चित्त में न आवे। इस दशा का नाम ध्यान है। महर्षि कपिल ने 'ध्यानं निर्विषयं मनः' कह कर मन को विषयों से पृथक् करने का नाम ध्यान कहा है।

(८) **समाधि**—ध्यानावस्था में ध्याता, ध्यान, ध्येय का ज्ञान योगी को बना रहता है। परन्तु जब ध्येय मात्र का प्रकाश रह जावे और ध्याता अपने रूप से शून्य सा हो जावे, तो उस दशा को समाधि कहते हैं। इस दशा में (कुछ सीमा तक) योगी को दुःख-सुख, शीतोष्णादि का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। अब उसकी दृष्टि में न कोई मित्र है और न शत्रु,' न मान समझता है और न अपमान।

उपर्युक्त योगाङ्गों के अनुष्ठान से मन स्थिर होता है और सम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है। धारणा-ध्यान और समाधि इन तीनों के एक-त्रित होने पर संयम कहाता है। और इस संयम पर जयप्राप्त करने से—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ योग० ३ पा० ५ सू० ॥

प्रज्ञा का प्रकाश हो जाता है।

इस प्रकार मन के एकाग्र होने से बौद्धिक-विकास हो जाता है, और इससे ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में प्रचुर सहायता मिलती है। प्राचीन काल में गुरुकुल-परम्पराओं में इस योगविद्या का प्रचार होने से छात्रों का सर्वाङ्गीण विकास के साथ बुद्धि-वृद्धि और विद्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती

रहती थी। आधुनिक शिक्षा के दोषों को देख २ कर हमारे शिक्षाविद् अहर्निश चिन्तित तथा दुःखी हैं। उन्होंने यह प्रयत्न भी किया है कि शिक्षा में मनोविज्ञान को भी स्थान दिया जाए। परन्तु वे जब स्वयं यथार्थ तथा मौलिक मनोविज्ञान से दूर हैं, तो दूसरों को क्या प्रकाश दे सकेंगे। क्या कभी शान्त दीपक दूसरों को प्रज्वलित कर सकता है? अतः उन्हें इस उपर्युक्त प्राचीन व शाश्वत सत्य-मनोविज्ञान से अवश्य लाभान्वित होना चाहिए। हमारे शिक्षाविद् इस प्राचीन अनुभूत मनोविज्ञान को शिक्षा में स्थान देकर ही शिक्षा के क्षेत्र में एक अद्‌भुत मार्गदर्शन कर सकते हैं।

योग की परिभाषा—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ योग० समाधिपाद० २ सूत्र ॥

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। योगदर्शनकार ने मन को 'चित्त' नाम देकर अपने शास्त्र में चर्चा की है। यह पाठकों को सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए।

चित्त की वृत्तियाँ—

चित्त को यदि एक सरोवर मानें, तो सरोवर में उठी लहरों को चित्त की वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। चित्त-सरोवर का एक किनारा बुद्धि से मिला हुआ आत्मारूपी गङ्गा की ओर है, तो दूसरा किनारा इन्द्रियों से मिला हुआ जगत् की ओर है। प्रथम किनारे को अन्तर्मुखी वृत्ति और दूसरे किनारे को बहिर्मुख भी कह सकते हैं।

चित्त की वृत्तियाँ पाञ्च प्रकार की हैं—

(१) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम।
(२) विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान।
(३) विकल्प अर्थात् वस्तुशून्य कल्पित नाम।
(४) निद्रा।
(५) स्मृति अर्थात् पूर्वश्रुत और दृष्ट पदार्थ का स्मरण।

चित्त में जितनी अच्छी या बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं, वे सभी इन पाञ्चों के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। योगदर्शन में लिखा है—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ योग० समाधि० ५ सूत्र ॥

चित्त की पाञ्चों प्रकार की वृत्तियों को दो भागों में विभक्त किया

गया है—१. क्लिष्ट २. अक्लिष्ट । क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक) की हेतु राजस तथा तामस वृत्ति को क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं। क्लिष्ट वृत्ति से पुरुष राग-द्वेषादि में लगा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। और जिसमें केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्ति-पूर्वक ईश्वर का चिन्तन होता है, प्रकृति पुरुष का विवेक तथा जो वृत्ति रजोगुण व तमोगुण के संसर्ग से रहित हो वह अक्लिष्ट कहलाती है।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।। योग० समाधि० ३ सूत्र ।।

चित्त की क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियां निम्न हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति।

(१) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।। योग० समाधि० ७ सूत्र ।।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाणवृत्ति हैं।

प्रत्यक्ष=इन्द्रियों द्वारा चित्तवृत्ति का बाहरी वस्तु के साथ उप-राग=सम्बन्ध होने पर बाहरी वस्तु को विषय बना सामान्य-विशेष प्रधान वृत्ति प्रत्यक्ष है।

अनुमान=अनुमेय के साधनरूप धर्म का समान जाति वाले स्थलों में अनुमत होना और भिन्न जाति वालों से वियुक्त होना=अलग रहना रूप जो सम्बन्ध है, उसे विषय बनाती हुई सामान्य का निश्चय जिसमें प्रधान हो, ऐसी चित्तवृत्ति अनुमान है।

आगम=यथार्थ वक्ता विद्वान् के द्वारा साक्षात् किया हुआ, अनुभव किया हुआ, या विद्या से अनुमान किया हुआ विषय दूसरे के निमित्त शब्द से उपदिष्ट किया जाता है। शब्द से उसके अर्थ को विषय बनाने वाली वृत्ति आगम है।

(२) विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।। योग० समाधि० ८ सूत्र ।।

वस्तु के निजरूप में अप्रतिष्ठित=अविद्यमान मिथ्याज्ञान विपर्ययवृत्ति है। 'सेयं पञ्च पर्वा भवत्यविद्या—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेषाः।' (व्यासभा०) अविद्या के पांच भेद हैं—(१) अविद्या (२) अस्मिता (३) राग (४) द्वेष (५) अभिनिवेश। इनकी व्याख्या पृथक् की गई है।

(३) शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।। योग० समाधि० ९ सूत्र ।।

शब्दज्ञान का अनुसरण करने वाला (शब्दार्थ से समझा जाने वाला)

वस्तु रहित शब्दव्यवहार विकल्पवृत्ति है। जैसे वन्ध्या का पुत्र, आकाश का फूल आदि।

(४) अभावप्रत्यालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ योग० समाधि० १० सूत्र ॥

अभाव (शून्यता) रूप प्रत्यय (प्रतीतिरूप ज्ञान) ही आलम्बन आश्रय जिसमें हो, ऐसी वृत्ति निद्रा है।

(५) अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ योग० समाधि० ११ सूत्र ॥]

अनुभव किए अर्न्तहित विषय का किसी निमित्त विशेष से सामने आना स्मृति वृत्ति है।

स्मृति दो प्रकार है—एक भावित अर्थात् कृत्रिम मिथ्या स्मरण होने वाली और दूसरी अभावित—अकृत्रिम यथार्थ या स्वाभाविक स्मरण करने योग्य। स्वप्नावस्था में मिथ्या स्मृति अर्थात् पदार्थों की उलट-पलट अस्वाभाविक होती है जैसे आकाश में उड़ता हुआ अपने को समझना आदि और जाग्रत दशा में अकृत्रिम (स्वाभाविक) या (वास्तविक) स्मृति होती है।

समस्त स्मृतियां उपर्युक्त वृत्तियों के अनुभव से उत्पन्न होती हैं। और ये सारी वृत्तियां सुख, दुःख, मोहरूप हैं अर्थात् सुख के पीछे रहने वाला राग; दुःख के पीछे रहने वाला द्वेष और मोह (अविद्या) हैं। इन सभी वृत्तियों का निरोध करने से योग होता है।

वृत्तियों में अन्तर ?

प्रमाणवृत्ति में वस्तुओं का सद्रूप (यथार्थता) का ज्ञान होता है विपर्ययवृत्ति में वस्तुओं का असद्रूप (अयथार्थता) होता है, विकल्पवृत्ति में सद्-असद् रूप से रहित कल्पित व्यवहार और निद्रावृत्ति में अभाव मात्र (शून्य-मात्र प्रतीति का आश्रय होता है।

वृत्तियों का द्विविध प्रवाह—

चित्तरूप नदी दो तरफ बहने वाली है कल्याण के लिए और पाप के लिए। जो मोक्ष को सामने रखकर बहने वाली, विवेक विषय जिसका बहने का स्थान है, यह पुण्यफल वाली है। और दूसरी संसार के भोगों को सामने रख कर बहने वाली, अविवेक विषय जिसका बहने का स्थान है, वह पाप-फल वाली है। इस दूसरे विषय प्रवाह को वैराग्य से बन्द किया जाता है। और विवेक-दर्शन के अभ्यास से मोक्षाभिमुख प्रवाह उभारा जाता है।

वृत्तियों का चक्र—

महर्षि व्यास ने चित्तवृत्तियों के विषय में लिखा है—

'तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्च वृतयः, एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमानिशावर्त्तते ।।' (योग० १ । ५ । व्यास०)

अर्थात् चित्त वृत्तियों से संस्कार बनते हैं और संस्कारों से चित्तवृत्तियाँ। यह वृत्तियां व संस्कारों का चक्र निरन्तर चलता रहता है। और ऐसा चित्त वृत्तिनिरोध हो जाने पर सत्त्वादि गुणों के परिणाम से रहित होने पर निर्मल हो जाता है या विलीन भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी भाव को व्यास मुनि ने इस प्रकार दर्शाया है—'तदेवम्भूत चित्तमवसिताधिकार-मात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति।'

(व्यासभाष्यम् योग० १ । ५)

अर्थात् सत्त्वादि गुणों के परिणामों से रहित चित्त आत्मा के जैसा निर्मल हो जाता है अथवा विनीत भाव को प्राप्त हो जाता है।

क्लेश क्या और कितने हैं ?

चित्त की वृत्तियाँ दो प्रकार की मानी हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लेश क्या हैं ? इस विषय में योगदर्शन में कहा है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। (योग० २ । १२)

तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः कामलोभमोहक्रोधभावः। (व्यास०)

अर्थात् समस्त क्लेशों का मूल कारण कर्माशय है और यह कर्माशय चाहे पुण्यरूप हो या पाप रूप, सब काम, लोभ, मोह तथा क्रोध से उत्पन्न होता है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनेवेशाः क्लेशाः ।। (योग० २ । ३)

अर्थात् क्लेश पाञ्च हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभि-निवेश।

अविद्या क्षेत्रमुकरेषां प्रसुप्तानुविच्छिन्नोदाराणाम् ।। (योग० २ । ४)

अर्थात् अविद्या ही अस्मिता राग, द्वेष, तथा अभिनिवेश क्लेशों का क्षेत्र=उपजस्थल है और 'अविद्यामनुक्षीयन्ते' (व्यास०) अविद्या के क्षीण होने पर ये भी क्षीण हो जाते हैं।

(१) **अविद्या**—अनित्या शुचिदुःखानात्मासु नित्यशुचिसुखात्म-

ख्यातिरविद्या ।। (योग० २।५) अर्थात् अनित्य=कार्य वस्तुओं में नित्य-दृष्टि होना, अपवित्र शरीरादि में पवित्र दृष्टि होना, दुःख में सुखदृष्टि करना तथा अनात्मा में=बाह्य-साधनों या अचेतन (जड़ वस्तुओं) में आत्म-बुद्धि करना अविद्या है।

(२) **अस्मिता**—दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।। (योग० २।६)

दृग्शक्ति=दृष्टा चेतन आत्मा और दर्शन शक्ति=बुद्धि आदि अन्तः-करणादि में एकरूपता समझना 'अस्मिता' क्लेश है।

(३) **राग**—सुखानुशयी रागः ।। (योग० २।७)

सांसारिक पदार्थों के सुख के पश्चात् रह जाने वाने वाला संस्कार=लगावरूप भाव 'राग' क्लेश कहलाता है। इस पर व्यासमुनि लिखते हैं— जो सुख में या सुख के साधनों में लालसा=वासना लोभ है वह राग है।

(४) **द्वेष**=दुःखानुशयी द्वेषः ।। (योग० २।८) दुःख के पश्चात् रह जाने वाला संस्कार घृणारूप भाव 'द्वेष' है। इस पर व्यासमुनि लिखते हैं—'दुःख या दुःख के साधन में जो प्रतिघात करने का भाव, विरोध, हननेच्छा, या क्रोध है, वह द्वेष' है।

(५) **अभिनिवेशः**—स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः ।।
(योग० २।९)

अर्थात् विद्वान् व्यक्ति का भी स्वप्रवाह की ओर खींचने वाला जो शरीरानुबन्ध=शरीर में रहने का वासना भाव=शरीर को न छोड़ने (न मरने) का भाव है, वह 'अभिनिवेश' क्लेश है। और समाना हि कुशला-कुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासना।' (व्यासभाष्य०) अर्थात् विद्वान् और अविद्वान् दोनों में ही मरणदुःखानुभव की वासना समान होती है।

महर्षि दयानन्द कृत पञ्च क्लेशों की व्याख्या—

महर्षि दयानन्द ने इन पाञ्च क्लेशों की व्याख्या इस प्रकार की है—

(१) **अविद्या**—"अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है। जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फँसा के जन्म-मरणादि दुःख-सागर में सदा के लिए डुबाती है।" "अविद्या के लक्षण ये हैं—अनित्य अर्थात् कर्म जो शरीरादि स्थूल पदार्थ तथा लोक-

लोकान्तर में नित्य बुद्धि, तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, और धर्म-धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है। तथा **अशुचि**=मल मूत्रादि के समुदाय दुर्गन्ध रूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि का करना, तथा तालाब, बावरी कुण्ड, कूआं और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यासादि दुःखों का सहना, स्पर्शेन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना, इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्य-विद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सबसे प्रेम-भाव से वर्त्तनादि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना, यह अविद्या का दूसरा भाग है। तथा **दुःख में सुखबुद्धि** अर्थात् विषय-तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, द्वेष आदि दुःख रूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रतादि सुखरूपव्यवहारों में दुःख बुद्धि करना, यह अविद्या का तीसरा भाग है। इसी प्रकार **अनात्मा में आत्मबुद्धि** अर्थात् जड़ में चेतनभाव और चेतन में जड़भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्माबुद्धि का होना तथा नित्य, शुचि और आत्मा में नित्य पवित्रता, सुख और आत्म बुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूट के जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।

(२) **अस्मिता**—दूसरा क्लेश 'अस्मिता' कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिला के समान देखना, अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमानादि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है।

(३) राग—राग अर्थात् जो-जो संसार में भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभ-सागर में बहना है, इसका नाम राग है।

जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग वियोग संयोग वियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है।

(४) द्वेष—चौथा द्वेष कहाता है अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से होती है।

(५) **अभिनिवेश**—पाञ्चवां 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं। सो पूर्व जन्म के अनुभव से होती है।...... इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा। (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

क्लेशों की वृत्तियों का अपाकरण—

इन उपर्युक्त क्लेशों की वृत्तियों के अपाकरण का उपाय बताते हुए लिखा है—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ (योग० २।११)

अर्थात् क्लेशों की वृत्तियां ध्यान द्वारा क्षीण करने योग्य हैं। इस सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि ने लिखा है कि—

'क्लेशों की जो वृत्तियाँ हैं वे क्रियायोग=तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान से समाप्त करनी चाहिए। जब तक वे दग्धबीज-सदृश हो जावें। जैसे वस्त्रों का स्थूल मल पूर्व साफ किया जाता है, पश्चात् सूक्ष्म मल को यत्न और उपाय से दूर किया जाता है, उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियां थोड़े प्रतिपक्ष से दूर की जा सकती हैं, और सूक्ष्म वृत्तियां महा प्रतिपक्ष से दूर होती हैं।

चित्त की वृत्तियों का निरोध के उपाय—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ योग० समाधि० १२ सूत्र ॥

चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा होता है। अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर तप, ब्रह्मचर्य, विद्या तथा श्रद्धा से सत्कार पूर्वक करने से दृढ़भूमि होता है और वैराग्य ज्ञान की पराकाष्ठा को कहते हैं।

चित्त रूपी नदी की दो धाराएँ हैं। एक विवेकभूमि में बहती हुई कल्याण (कैवल्य) सागर में गिरती है, दूसरी अविवेक अर्थात् विषयभूमि में बहती हुई अधर्म सागर में गिरती है। जब ईश्वर के निरन्तर चिन्तन सत्य के धारण, शास्त्रों के अभ्यास और वैराग्य से दूसरी धारा (अविवेक-की) सूख जाता है, तब पहली धारा द्विगुण वेग से बहती है और चित्त की पूर्वोक्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ (योग० १। ३)

तब चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर जीवात्मा की द्रष्टा=सर्व-साक्षी सर्वान्तर्यामी परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है। और निरोध अवस्था से भिन्न दशा में—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ (योग० १। ४)

आत्मा चित्त की वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है आत्मा चित्त व चित्त की वृत्तियों से पृथक् है। जब जीवात्मा किसी वस्तु को देखने आदि की इच्छा करता है, तव नेत्रादि के द्वारा आत्मा की प्रेरणा से चित्त की वृत्ति बाह्य दृश्यवस्तु के रूप में परिणत हो जाती है।[1] इस प्रकार पदार्थाकार हुई चित्तवृत्ति जिस मार्ग से बाहर गई थी उसी के द्वारा चित्त में और चित्त के द्वारा जीव तक पहुँच जाती है। इस प्रक्रिया से ज्ञेय वस्तु का ज्ञान जीव को होता है। चित्त अयस्कान्त मणि (चुम्बक पत्थर) के सदृश है।[2] यदि इसे रोका न जाये तो लोहे के तुल्य विषयों को अपनी ओर खींच लेता है। इसलिए चित्त के निरोध की आवश्यकता है। परन्तु जीव स्फटिकमणि के तुल्य शुद्ध है और वह समीपस्थ रूप, रंग वाले पदार्थ के सदृश रूप रंग वाला प्रतीत हुआ करता है। अतः सूत्र में आत्मा को चित्तवृति का रूप धारण कर लेने वाला कहा गया है।

चित्त का स्वभाव—चित्त प्रकृति का विकार होने से प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तथा तमस् गुणों से प्रभावित रहता है अतः चित्त का तीन प्रकार का स्वभाव होता है। योगदर्शन के भाष्यकार व्यास मुनि लिखते हैं—

(१) व्युत्थाने यश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः।
(योग० १। ४ व्यासभाष्यम्)

(२) चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारिदृश्यत्वेन स्वं भवति। (योग० १। ४ व्यासभाष्यम्)

'चित्तं हि प्रख्या-प्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् ।'

(योग० समधि० २ सू०)

चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुण अर्थात्—

(१) प्रख्या रूप चित्त सत्त्वगुण प्रधान होता है। इसमें चित्त दृष्ट व श्रुत पदार्थों पर विचार करता है।

(२) प्रवृत्ति रूप चित्त चंचल स्वभाववाला होता है। इसमें सत्त्वगुण के साथ रजोगुण की मात्रा अधिक होती है। तब चित्त धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है।

(३) स्थितिशील-चित्त तमोगुण प्रधान होता है। तब अधर्म, अज्ञान और विषयासक्ति का चिन्तन करता है।

चित्त की पांच अवस्थाएँ—

महर्षि व्यास ने योगदर्शन में चित्त की पाञ्च अवस्थाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

'क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।'

(योग० समा० १ सूत्र)

क्षिप्त=चञ्चल, मूढ=मोहवश मूर्छितरूप, विक्षिप्त=बाधित, एकाग्र=एकवृत्तिता, (या एक स्थान में रोकना), निरुद्ध=सर्वथा निरोध, ये पाञ्च चित्त की अयस्थाएँ हैं। इनको इस प्रकार भी कहा जा सकता है—(१) क्षिप्त=इस दशा में चित्त की वृत्तियाँ अनेक सांसारिक विषयों में गमन करती हैं।

(२) मूढ=इस दशा में चित्त कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूलकर मूर्खवत् हो जाता है।

(३) विक्षिप्त=इस दशा में चित्त व्याकुल और व्यग्र हो जाता है।

(४) एकाग्र=चित्त की वृत्तियां इस दशा में अनेक विषयों से खिंच कर एक ओर लग जाती हैं।

(५) निरुद्ध=इस दशा में चित्त की वृत्तियाँ चेष्टारहित हो जाती हैं।

इनमें प्रथम चार अवस्थाओं में सत्-रजस्-तमस् गुणों का संसर्ग रहता है। परन्तु ५ वीं दशा में इन गुणों का संस्कार मात्र रह जाता है।

इनमें (क्षिप्त तथा मूढ़ दशाओं में) समाधि नहीं होती। विक्षिप्त दशा में चित्त में विक्षेपों के कारण गौण हुई समाधि योगपक्ष में नहीं मानी

जाती। एकाग्र दशा में योग होता है, उसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। इसमें लगाई गई समाधि, जैसी वस्तु होती है, वैसी ही प्रदर्शित करती है, अविद्यादि पाञ्चों क्लेशों को क्षीण करती है, कर्म के बन्धनों को ढीला कर देती है और निरोध रूप पाञ्चवीं दशा की ओर अभिमुख करती है। और अन्तिम निरोध दशा में समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

इन्द्रियजय कैसे होता है ?

वैसे चित्त की वृत्तियों के निरोध करने से इन्द्रियों पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। पुनरपि योगदर्शनकार ने इन्द्रिय-जय के कुछ और भी उपायों का वर्णन करते हुए लिखा है—

(क) ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् इन्द्रियजयः ॥
योग० ३ । ४७ ॥

अर्थात् ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय तथा अर्थवत्त्व इन पाञ्च-रूपों में संयम करने से इन्द्रिय-जय की प्राप्ति होती है।

(१) **ग्रहण**—सामान्य-विशेषात्मक शब्द आदि विषय ग्राह्य हैं, उनमें इन्द्रियों की वृत्ति-वर्त्तन शक्ति (व्यवहार शक्ति) को ग्रहण कहते हैं।

(२) **स्वरूप**—इन्द्रिय द्रव्य है, जो कि ज्ञानादि की प्राप्ति में बाह्य करण है। पृथक् २ अपने २ रूपादि का ग्राहक होने से विशेषकरण है। नेत्र रूप का ही ग्रहण करता है, रस का नहीं, इत्यादि इन्द्रियों का स्वरूप है।

(३) **अस्मिता**—अस्मिता लक्षण वाला तीसरा रूप है। उस सामान्य सत्ता वाले अहङ्कार की इन्द्रियाँ विशेष हैं।

(४) **अन्वय**—व्यवसायात्मक व्यवहार कराने वाले, कान्ति, प्रगति, स्तब्धता स्वभाव वाले सत्त्वादि गुण चतुर्थरूप हैं।

(५) **अर्थवत्त्व**—गुणों में जो कार्यशक्ति है, वह अर्थवत्त्व है। योगी को इन पाञ्चों रूपों में यथाक्रम संयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। भाव यह है कि इन्द्रियाँ मनुष्य को अपने २ विषय की ओर आकृष्ट करती हैं, किन्तु योगी के उक्त पांचों रूपों में संयम करने पर इन्द्रियाँ अपने विषयप्रवण स्वभाव को त्याग देती हैं और अन्तर्मुख हो जाती हैं। तब इन्द्रियाँ योगी के अधीन होने से ज्ञान का सम्पादन करती हैं। यही 'इन्द्रियजय' है।

(ख) ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । योग० २ । ५५ ॥

चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर इन्द्रियों की अत्यन्त स्वाधीनता हो जाती है। जैसे मधु बनाने वाले उड़ते हुए राजा के साथ मक्खियाँ भी उड़ जाती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्तनिरोध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं।

चित्त के विक्षेप—(जिन विघ्नों से चित्त विक्षिप्त होता है)

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्व-अनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥

योग० । समाधि० ३० सू० ॥

चित्त को विक्षिप्त करने वाले निम्नलिखित विघ्न हैं—

(१) **व्याधि**=वात-पित्त-कफ रूप धातुओं, खाए पिए आहार के विषम रस तथा इन्द्रियों की विषमता का नाम व्याधि है। व्याधि (रोग) से शरीर में विकलता उत्पन्न हो जाती है।

(२) **स्त्यान**=चित्त की अकर्मण्यता (जी चुराना) स्त्यान है।

(३) **संशय**=दो कोटियों को छूने वाला, दो ओर जाने वाला, द्विधाज्ञान कि ऐसा हो सकता है या नहीं, संशय कहलाता है।

(४) **प्रमाद**=समाधि के साधनों का न करना।

(५) **आलस्य**=चित्त और शरीर के भारीपन से मुक्तिसाधनों में अप्रवृत्ति आलस्य है।

(६) **अविरति**=चित्त का विषयों के संसर्ग से मोहित होना।

(७) **भ्रान्तिदर्शन**=विपरीत ज्ञान का होना।

(८) **अलब्धभूमिकत्व**=योग की भूमियों को न प्राप्त करना।

(९) **अनवस्थितत्व**=योग की भूमियों को प्राप्त करके भी चित्त का स्थिर न होना।

ये नौ चित्त को एकाग्र करने में विघ्न है। इन्हें नवयोगमल भी कहते हैं।

चित्त के उपविघ्न—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥

(योग० समाधि० ३१ सूत्र)

दुःख, दौर्मनस्य=मन की विकलता, अङ्गमेजयत्व=अङ्गकम्पन, श्वास, प्रश्वास, ये विक्षेपों के साथ होने वाले उपविघ्न हैं।

(१) दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक।

आध्यात्मिक=मन व शरीर के रोग।

आधिभौतिक=व्याघ्र चोरादि से होने वाले दुःख।

आधिदैविक=इन्द्रिय तथा मन की चञ्चलता तथा अशुद्धि से होने वाले दुःख।

(२) दौर्मनस्य=इच्छा की पूर्ति न होने से मन में क्षोभ पैदा होना।

(३) अङ्गमेजयत्व=आसन के स्थिर न होने वा रोग के कारण से शरीर का हिलना जुलना।

(४) श्वास=बाहर से वायु को नासिका के छिद्रों द्वारा अन्दर लेना।

(५) प्रश्वास=अन्दर की वायु को बाहर निकालना।

ये उपविघ्न विक्षिप्त वालों को ही होते हैं। समाहित-चित्त वालों को नहीं होते।

चित्त के विक्षेपों को दूर करने के उपाय—

(१) ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ यो०। १। २६ ॥

ततः='ओम्' का जप तथा अर्थ का अनुभव करने पर अन्तरात्मा का बोध तथा विघ्नों का अभाव हो जाता है। 'ये तावदन्तराया व्याधि. प्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति०।' (व्यास०) ईश्वरप्रणिधान से व्याधि आदि विघ्न नहीं होते, और इसको स्वरूपदर्शन भी हो जाता है।

(२) 'अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः।' (व्यास०) ये विक्षेप समाधि के विरोधी हैं, इनका निरोध अभ्यास और वैराग्य से करना चाहिए।

चित्त की एकाग्रता के साधन—

(१) तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ योग० समाधि० ३२ सूत्र ॥

उपर्युक्त विक्षेपों (विघ्नों) को दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। चित्त का अनेक विषयों की तरफ दौड़ना ही परम विघ्न है, अतः उसके दूर करने का एक ही उपाय है कि चित्त को एक तत्त्व (अद्वितीय ब्रह्म) का चिन्तन करके एकाग्र करे।

(२) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ योग० समाधि० ३३ सूत्र ॥

चित्त की प्रसन्नता=स्वच्छता अथवा स्थिरता के लिए यह भी परमावश्यक है कि सुखी पुरुषों से मित्रता, दुःखी प्राणियों पर दया करना पुण्यात्माओं में हर्ष भावना, अपुण्यशीलों में उपेक्षा करने से चित्त निर्मल हो जाता है, अर्थात् मैत्री, करुणा और हर्ष से चित्त में उत्साह और शान्ति रहती है और पापियों की उपेक्षा करने से मनुष्य क्रोध से बच जाता है और चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। क्योंकि प्रसन्न (स्वच्छ) चित्त शीघ्र स्थितिपद को प्राप्त करता है।

(३) प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ योग० समाधि० ३४ सूत्र ॥

अर्थात् प्राणायाम करने से मन निर्मल तथा स्थिर हो जाता है। प्राणायाम का प्रकार यह है कि प्रच्छर्दन (वमन) की भाँति वेग से प्राण को बाहर फेंकना और विधारण=विशेष धारण करके अन्दर ही रोकना इस प्रक्रिया को बार २ करना ही प्राणायाम है। महर्षि व्यास कहते हैं—

'ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्।'

अर्थात् प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण से मन को स्थिर करे।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ योग० साधन० ५३ सूत्र ॥

प्राणायाम के सिद्ध होने पर धारणा में. (एकाग्र करने में) मन की योग्यता हो जाती है। धारणा का लक्षण है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ योग० तृतीयपाद० १ सूत्र ॥

चित्त का नासिकाग्र, हृदयकमलादि स्थानों में बान्धना 'धारणा' कहलाती है।

(४) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥

योग० समाधि० ३५ सूत्र ॥

अथवा दिव्य विषय वाली चित्त की वृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर कर देती है। अर्थात् नासिका, जिह्वा आदि के अग्रभाग पर धारणा करने से दिव्यगन्ध दिव्यरसादि की अनुभूति होने लगती है। इन अनुभूतियों से मन स्थिर हो जाता है।

(५) विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ योग० समाधि० ३६ सूत्र ॥

अथवा शोकरहित और प्रकाशयुक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर कर देती है। अर्थात् हृदय-कमल में जब प्राण को धारण किया जाता है, तब योगी की बुद्धि प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत हो जाती है। उससे बुद्धि में जाज्वल्यमान ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तब उसकी दशा निस्तरंग महासागर की भांति शान्त तथा निश्चल हो जाती है। और चित्त स्थिर हो जाता है।

(६) वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ योग० समा० ३७ सूत्र ॥

अथवा किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा को राग कहते हैं। राग-रहित चित्त स्थिर हो जाता है।

(७) स्वप्न-निद्रा-ज्ञानावलम्बनं वा ॥ समाधि० ३८ सूत्र ॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्रा ज्ञान जैसी अवस्था से योगी का चित्त स्थिर हो जाता है स्वप्न में बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता, निद्रा में बाह्य तथा आभ्यान्तर दोनों का ज्ञान नहीं रहता।

(८) यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ समाधि० ३९ सूत्र ॥

अथवा अभिमत (इच्छानुकूल) वस्तु अथवा हृदयकमल, नासिकाग्र आदि स्थानों पर ध्यान करने से चित्त स्थिर हो जाता है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्यवशीकारः॥ यो० १ पा० ४० सूत्र ॥

इस चित्र का वशीकार=नियन्त्रण-स्थिरभाव परमाणु-परममहत्त्व पर्यन्त होता है। भाव यह है कि मन सूक्ष्म में घुसते हुये=स्थिर होते हुए परमाणु तक स्थितिपद को प्राप्त कर सकता है और स्थूल=महान् में घुसते हुए—स्थिर होते हुए परम महत्त्व=अति महान् (जिससे महान् कोई न हो) ऐसे पदार्थ आकाश तक में स्थितिपद को प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों तरफ (सूक्ष्म-महान्) दौड़ते हुए मन को स्थिर करने का अभ्यास करते-करते योगी सर्वोच्च तथा अबाधित वशीकार सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

(६) योग० १। २८ सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि लिखते हैं—

'तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते।'

अर्थात् योगी का चित्त 'ओम्' का जप करते हुए तथा उसके अर्थ को अनुभव करते हुए एकाग्र हो जाता है।

चित्त क्षणिक नहीं है—

चित्त क्षणिक है अथवा अक्षणिक है? इस विषय में नास्तिक दर्शनों का मत है कि चित क्षणिक है, किन्तु महर्षि व्यास ने इस मत का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। उसकी निम्न युक्तियां हैं—

(१) यदि चित्त को क्षणिक माना जाए, तो मन की विक्षिप्तादि दशाएँ ही नहीं होंगी और फिर एकाग्र करने का समग्र उपदेश निरर्थक हो जाएगा।

(२) यदि क्षणिकवादी सदृश प्रतीति के प्रवाह से चित्त की एकाग्रता मानता है, अर्थात् प्रथम चित्त ने किसी वस्तु के लाल रंगादि को देखा और फिर दूसरे चित्त ने भी उसे देखा, यही एकाग्रता का रूप है, तो यह ठीक नहीं,। क्योंकि जब दोनों चित्त भिन्न-भिन्न हैं, तो एकाग्रता किस की हुई?

(३) यदि प्रतीति के प्रवाहांश का ही धर्म एकाग्रता है, तब भी ठीक नहीं। क्योंकि इससे विक्षिप्त दशा ही नहीं बनी, तब एकाग्रता ही क्या हो सकती है। अतः—

तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तम्॥ व्यासभाष्यम्॥

इसलिए अनेक वस्तुओं में रहने वाला एक नियत तथा अवस्थित (अक्षणिक) चित्त है। अन्यथा यह दोष भी उत्पन्न होता है कि—

'कथमन्यदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत्'।

दूसरे चित्त के जाना हुए का दूसरा चित्त स्मरण कैसे करेगा? तब तो किसी की स्मृति भी न हो सकेगी? 'यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि' अर्थात् जो मैंने देखा था, उसी को छू रहा हूँ, यह प्रत्यभिज्ञा भिन्न-भिन्न चित्तों में कदापि सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक शरीर में एक तथा नियत चित्त है।

चित्त प्रकृति का विकार है—

(१) इस विषय में महर्षि वेदव्यास लिखते हैं—

'प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणा परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते। चलं च गुणवृत्तिमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम्।' (व्यासभाष्यम् यो० द्वि० पा० १५ सू०)

अर्थात् चित्त के गुण सत्त्व-रजस्-तमोरूप, परस्पर सहायक होकर शान्त, घोर या मूढ़ ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। सत्त्वादि गुणों का व्यवहार अस्थिर होने से चित्त शीघ्र परिणामी कहा जाता है।

यहां चित्त को प्रकृति के सत्त्व-रजस् तथा तमोगुण रूप में माना है। और सत्त्वादिगुण प्रकृति के हैं।

(२) प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ (यो० द्वि० पा० १८ सू०)

अर्थात् पृथिवी आदि महाभूत और इन्द्रियाँ सत्त्व, रजस्, तमस्, गुणों वाली होने से प्रकाशशील, क्रियाशील, तथा स्थिति शील हैं और द्रष्टा-आत्मा के भोग तथा अपवर्ग के लिए हैं।

यहां इन्द्रियों को सत्त्वादि गुणों वाला माना है। और ये तीनों गुण प्रकृति के हैं।

(३) योगदर्शन के द्वितीय पादस्थ १९वें सूत्र—

'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि' पर महर्षि व्यास लिखते हैं—'तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक् पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्या विशेषष्य विशेषाः'। अर्थात् श्रोतादि पाञ्च ज्ञानेन्द्रियां, वागादि कर्मेन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन ये सब अस्मिता लक्षण वाले अहंकार अविशेष सामान्य पदार्थ के विशेष परिणाम हैं।

यहाँ स्पष्ट रूप से मन को अहंकार का परिणाम माना है। अतः मन (अन्तःकरण) प्रकृति का विकार ही है।

चित्त का व्यापार विवेकख्याति तक है—

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने इस विषय में लिखा है—

(१) 'ख्यातिपर्यवसानं चित्तचेष्टितम् ॥'' यो० १। ५०॥

अर्थात् चित्त का व्यापार विवेकख्याति पर्यन्त ही है।

(२) 'चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः' (व्यासभाष्य यो० द्वि० पा० २४ सू०)

अर्थात् चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है।

(३) 'यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निवर्त्ततेऽस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतःशुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यते।' (समाधि० ५१ सूत्र)

अर्थात् कैवल्यभागीय=सर्वनिरोध समाधिवाले संस्कारों के द्वारा जब चित्त की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, उसके निवृत्त होने पर आत्मा स्वरूपमात्र स्थिति वाला हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि चित्त का व्यापार मुक्तिपर्यन्त ही है।

(४) 'ते पञ्चक्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तंगच्छतीति' (योग० २। १० व्यास) योगी के दग्धबीज-सदृश पांच क्लेश चित्त के अधिकार के समाप्त होने पर और उसके लीन हो जाने पर उसी के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं।

आत्मा और अन्तःकरण भिन्न २ हैं—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ द्वितीयपाद० ६ सूत्र ॥

दृक्शक्ति=द्रष्टृशक्ति चेतन आत्मा और उसके अधीन समस्त दर्शन साधनों (मन, बुद्धि आदि) की एकरूपता मानना 'अस्मिता' नामक क्लेश है। अतः स्पष्ट है कि आत्मा और अन्तःकरण भिन्न २ हैं।

चित्त में वासनाएँ अनादिकाल से लिप्त होती हैं—

चित्त में वासनाओं का जाल जन्म-जन्मान्तरों से लिप्त होता है। योग-दर्शन के भाष्यकार कहते हैं—

'क्लेशकर्मविपाकानुभवनिमित्ताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसम्मूर्छितमिदं चित्तं चित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः ॥' योग० द्वि० पा० १३ सूत्र ॥

अर्थात् क्ले, कर्म, और विपाक के अनुभव से निष्पन्न हुई वासनाओं द्वारा अनादि काल से लिप्त यह चित्त ऐसे विचित्रीकृत होता है जैसे मछली पकड़ने का जाल ग्रन्थिबन्धनों से भरा होता है। ये वासनाएँ अनेक जन्मों की होती हैं।

चित्त-विमुक्ति कब होती है ?

'चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी' ॥ (योग० २। २७ व्यास०)

विवेकख्याति होने पर चित्त की विमुक्ति तीन प्रकार से होती है—

(१) 'चरिताधिकारा बुद्धिः' (व्यास०) अर्थात् गुणाधिकारों से निवृत्त होने पर बुद्धि=चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है।

(२) गुणलीनता=सत्त्वादि तीनों गुण, पर्वत शिखर के तट से पतित पाषाण की भांति न ठहरते हुए स्वकरण में प्रलयाभिमुख होकर अस्त हो जाते हैं।

(३) आत्मस्थिति=इन गुणों के प्रलीन होने पर पुनः उत्पत्ति प्रयोजन न होने से नहीं होती। अतः आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। यह व्यासमुनि ने योग० २। २७ के भाष्य में लिखा है।

अन्तःकरण की शुद्धि से लाभ—

(१) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥

योग० साधन० २८ सूत्र० ॥

योग के आठ अङ्गों (यम, नियमादि) अनुष्ठान करने से अन्तःकरण की अशुद्धि अथवा अविद्या, अस्मितादि पाञ्च पर्व वाले मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है। जैसे परशु काष्ठादि के छेदन का करण है, वैसे ही योगाङ्गों का अनुष्ठान अशुद्ध के क्षय का कारण है। और जैसे सुख की प्राप्ति का कारण धर्म है, वैसे ही विवेक ख्याति की प्राप्ति का कारण योगाङ्गानुष्ठान है।

(२) सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-ऐकाग्रच-इन्द्रियजय-आत्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥

(योग० साधन ४१ सूत्र)

बाह्य तथा आभ्यन्तर शुद्धि से सत्त्वशुद्धि (मन की शुद्धि), सौमनस्य =मन की प्रसन्नता, ऐकाग्रच=एकाग्रता, इन्द्रियजय=इन्द्रियसंयमता, तथा आत्मदर्शन की योग्यता भी हो जाती है।

(३) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥ योग० साधन ४३ सूत्र ॥

तप करने से अविद्यादि अशुद्धियों के क्षय से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

(४) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ योग० साधन० ५२ सूत्र ॥

प्राणायाम के सिद्ध होने पर सत्त्व गुण को आच्छादित करने वाले

रजोगुण व तमोगुण का आवरण क्षींण हो जाता है। और उससे अन्तः-करण (चित्तादि) निर्मल हो जाते हैं।

चित्त के द्विविध धर्म—

चित्त के दो प्रकार के धर्मों का निर्देश करते हुए व्यासमुनि लिखते हैं—

चित्तस्य द्वये धर्मा परिद्रष्टाश्चापरिदृष्टाश्च। तत्र प्रत्यात्मकाः परिदृष्टा वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः। ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्राप्ति-वस्तुमात्रसद्भावाः।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

(व्यासभाष्य योगा० तृतीय० १५ सूत्र)

अर्थात् चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं—परिदृष्ट और अपरिदृष्ट। उनमें प्रतीतिरूप ज्ञानात्मक परिदृष्ट हैं। और वस्तुमात्र ज्ञानशून्य स्वभाव वाले अपरिदृष्ट हैं। वे अपरिदृष्टा सात होते हैं—

निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये चित्त के अपरिदृष्ट धर्म हैं।

ये पूर्वजन्म सम्बन्धित होने से अपरिदृष्ट कहलाते हैं। व्यासमुनि लिखते हैं—

'ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवद-परिदृष्टाश्चित्तधर्माः।' (योग० ३। १८ व्यास०)

संस्कारों के भेद और उनका महत्त्व—

योगदर्शन में संस्कारों के विषय में लिखा है—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजाति-ज्ञानम्॥ (योग० तृतीय १८ सूत्र)

संस्कारों के साक्षात्करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। इस सूत्र पर व्यासभाष्य में जो लिखा है, उसका अनुवाद इस प्रकार है—

'ये संस्कार दो प्रकार के हैं। प्रथम स्मृति एवं अविद्या आदि क्लेशों के कारण भूत वासनारूप और दूसरे सुख-दुःख फल के कारणभूत धर्मा-धर्म रूप हैं। वे पूर्वजन्म सञ्चित हुए परिणाम-चेष्टा-निरोध-शक्ति जीवनधर्म के समान अपरिदृष्ट चित्त के धर्म हैं। उनमें संयम करना साक्षात् क्रिया के

लिए है। और देश, काल, निमित्त तथा अनुभव के बिना उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता। योगी को इस प्रकार संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्व-जन्म का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

जीवात्मा के साथ देहान्तरों में सूक्ष्म शरीर जाता है। उसमें (चित्त में) जीवों का रिकार्ड तीन रूपों में रहते हैं—(१) स्मृति=जन्म-जन्मातर का प्राप्त ज्ञान। (२) वासना=किये हुए अच्छे या बुरे कर्म वासना रूप में। (३) संस्कार=जन्म-जन्मान्तर के पड़े हुए प्रभाव संस्कार रूप में।

जन्म-जन्मान्तर के संस्कार, वासना और स्मृति का भण्डार चित्त है। उसके शुद्ध तथा आवरण रहित होने पर पहले जन्म के संस्कारों का ज्ञान हो जाता है। योगदर्शन में कहा है—अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः। (योग० ३६ सूत्र) अर्थात् अपरिग्रह के स्थिर होने पर जन्म कैसे और क्यों? इसका बोध हो जाता है।[1]

दूसरे के चित्त का ज्ञान सम्भव है—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ योग० ३ पाद० १६ सूत्र ॥

---

१. पूर्वजन्म-ज्ञान के विषय में यह बात जाननी चाहिये कि योगी को संस्कारों के ज्ञान से पूर्व जन्म का आनुमानिक ज्ञान ही होता है। पूर्व जन्म में मेरे अमुक माता पिता थे, और अमुक घर में रहते थे, इत्यादि ज्ञान नहीं होता। योगदर्शन के व्यासभाष्य में इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

तदित्थं संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः।
परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम् ॥
(योग० ३। १८ व्यास०)

अर्थात् योगी को चित्तस्थ संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। और दूसरे में भी इसी प्रकार साक्षात्कार करने से दूसरे के जन्म का अनुभव हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि योगी संस्कारों को साक्षात् करके आनुमानिक ज्ञान ही करता है। व्यास ने 'संवेदनम्' शब्द से इसका स्पष्ट निर्देश किया है। और यह उचित भी है कि कार्य से कारण का ज्ञान हो जाता है। 'अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथान्तासंबोधः' योग० २।३६ सूत्र भी यह ही संकेत करता है कि जन्म के कारणभूत संस्कारों का ज्ञान होता है।

प्रत्यय=प्रतिभानज्ञान (दूसरे के बाहरी आभास ज्ञान) का संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् अनुभवी आकृतिविद्या के विद्वान् तथा योगी दूसरों के चित्त की बातों को जान लेते हैं।

चित्त का ज्ञान हृदय में होता है ?—

हृदये चित्तसंवित् ।। योग० ३ पाद ३४ सूत्र ।।

हृदय में संयम करने से चित्त (मन) का ज्ञान हो जाता है। मन का स्थान हृदय है, इसकी पुष्टि वेद से भी होती है—

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

(यजु० ३४। १)

हृदय कहां है ?—

हृदय-स्थान का वर्णन करते हुए व्यास मुनि लिखते हैं—

(क) यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ।। (व्यासभाष्यम्)

जो इस ब्रह्मपुर=ब्रह्मनगर में गुप्त कमलगृह है, उसमें विज्ञान है अर्थात् हृदय में कमलाकार एक मांसपिंड है, उसी में चित्त रहता है। इसलिए उसमें संयम करने से वहां रहने वाले चित्त का ज्ञान हो जाता है। अथवा चित्तस्थ वासनाओं का ज्ञान हो जाता है।

(ख) समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं तस्य क्रिया पञ्चतयी प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः।(योग० ३।३९ व्यास०)

अर्थात् समस्त इन्द्रियों की वृत्ति प्राणादि लक्षण वाली है। प्राणों द्वारा होती है। वह ही जीवन है, उसकी क्रिया पांच प्रकार की है। मुखनासिका से गति करने वाला प्राण हृदय पर्यन्त है। इससे स्पष्ट है कि हृदय का स्थान छाती में ही है।

महर्षि दयानन्द कृत हृदय-स्थान की व्याख्या—

(क) यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः ।। छान्दोग्य० प्रपा० ८। मं० ४ ।।

इसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय

देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है। (ऋ० भू० उपासना०)

(ख) तपः शुद्धे ये ह्य पवसन्त्यरण्ये० ॥ मुण्डको० १ खं० २ मं० ॥

जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। (ऋ० भू० उपासना०)

(ग) अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् (यजु० ३१। १) की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने 'दशाङ्गुल' शब्द से ब्रह्माण्ड और हृदय दोनों अर्थ किए हैं। इस शब्द की हृदय परक व्याख्या इस प्रकार की है—'पाञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार दशमा जीव और शरीर में जी हृदयदेश है, सो भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।'' (ऋ० भू० सृष्टिविद्याविषय)

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि हृदय देश में अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार) का स्थान है।

अस्थिर-चित्त वालों का योग क्या है ?

जिनका मन स्थिर नहीं हैं, और वे योग करने के इच्छुक हैं, तो उनके लिए योगदर्शन में निम्न उपाय बताए हैं—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ यो० २। १ ॥

अर्थात् जिनका चित्त चञ्चल है, उन्हें प्रतिदिन निम्न उपाय करने चाहिए—

(१) तपः—'नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्राप्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते।' (व्यास०)

अर्थात् विना तपस्या के योग नहीं सिद्ध हो सकता। अनादि कर्मवासना रूप चित्रों वाली विषयों को उपस्थित करने वाली मलीनता की शुद्धि तप के विना नहीं हो सकती। अतः प्रथम अस्थिर चित्त वाले को तपस्वी बनना चाहिए।

(२) **स्वाध्याय**—'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।' (व्यास०) अर्थात् प्रणव (ओम्) का तथा पवित्र मन्त्रों का जप करना तथा मोक्ष विषयक शास्त्रों का पढ़ना स्वाध्याय है। इसका अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए।

(३) **ईश्वर-प्रणिधानम्**—'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।' (व्यास०) अर्थात् सब क्रियाओं का परम गुरु परमात्मा में अर्पण तथा उनके फल का त्याग करना ईश्वर-प्रणिधान है।

तपादि के अभ्यास से क्या फल होता है?

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ यो० २। २ ॥

इस उपर्युक्त सेवन किया गया क्रियायोग समाधि को सिद्ध करता है और अविद्यादि क्लेशों को सूक्ष्म करता है। 'प्रतनूकृतान् क्लेशान् असंख्यानग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति।' (व्यास०) और सूक्ष्म किए क्लेशों को विवेक-अग्नि के द्वारा जले हुए बीजों के समान उगने के धर्म से रहित कर देगा। अतः अस्थिर चित्त वालों को उपर्युक्त उपायों को क्रियान्वित करके चित्त को स्थिर करना चाहिए।

जन्म-जन्मान्तरों के चितस्थ संस्कारों में जाति-देश-काल की बाधा नहीं—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥
(यो० ४ पा० ९ सू०)

विभिन्न जन्म, देश, काल से अन्तरित (छिपी हुई) वासनाओं का भी आनन्तर्यम्=व्यवधानरहितता (समीपत्व) होती है, स्मृति और संस्कारों की एक रूपता होने से। यदि सैकड़ों जन्मों से या दूर देश से या कल्प भर काल से छिपा हुआ कर्माशय हो, फिर भी अपने प्रकट करने वाले निमित्त से तुरन्त प्रकट हो जाता है। क्योंकि जैसा अनुभव हो वैसे संस्कार होते हैं, और कर्म वासना के अनुरूप होते हैं और जैसी वासनाएँ होती हैं वैसी ही स्मृति होती है। अतः जाति, देश, काल की रुकावट में रहने वाले संस्कारों में स्मृति होती है। और स्मृति से फिर संस्कार। इस प्रकार ये स्मृति संस्कार कर्म आशय वृत्ति के लाभ से प्रकट होते हैं। अतः रुकावट में आए या छिपे हुओं का भी निमित्त-नैमित्तिक भावों के नाश न होने से आनन्तर्य=व्यवधानरहितता (समीपता) बनी रहती है।

तासामानादित्वं चाऽशिषो नित्यत्वात् ।। (यो० ४ पा० १० सू०)

आशीः=भावना=भीतरी इच्छा के नित्य होने से उन वासनाओं का अनादित्व सिद्ध है।

'तस्मादनादिवासनानुविद्धं चित्तं निमित्तवशात् काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति।' घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोच-विकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः।' (व्यासभाष्य)

इससे अनादि वासनाओं से युक्त चित्त निमित्तवश किन्हीं वासनाओं को प्राप्त करके पुरुष के भोग के लिए उपस्थित होता है। कुछ आचार्य ऐसा भी मानते हैं कि चित्त घड़े और महल में के अन्दर रखे दीपक की भांति संकोच-विकास धर्मवाला और शरीर के परिणाम आकार मात्र वाला है।

'वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।'(व्यासभाष्य)

इस चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकास वाली है, यह आचार्य मानता है[1]।

चित्तस्थ वासनाएं अनादि हैं, तो मुक्ति कैसे ?

चित्त की वासनाओं को प्रवाह से अनादि माना गया है। क्योंकि सकाम कार्यों का कर्त्ता सदैव शुभ फल की इच्छा अपने लिए करता है। इस फलेच्छा से वासनाएँ और वासनाओं से फिर वही फलेच्छा पैदा होती है। और यह चक्र मुक्ति तक बराबर चलता रहता है। और मोक्ष की भी एक निश्चित् अवधि होती है[2]। चाहे वह कितनी लम्बी हो, उस अवधि के बाद

१. यहाँ 'विभु' शब्द से व्यापक अर्थ करना ठीक नहीं है, अन्यथा चित्त को शरीर में व्यापक मानने से अनेक ज्ञान युगपत् होने लगेंगे। और चित्त का स्थान हृदय है और यह सूक्ष्म-शरीर का ही एक घटक है तो यह एकदेशी होने से व्यापक कभी नहीं हो सकता।

(१) महर्षि दयानन्द ने मुक्ति के समय का वर्णन इस प्रकार किया है—

(२) 'ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।।

यह मुण्डकोपनिषद् का वचन है—वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़कर संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि—तेतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का परान्तकाल होता है।' क्रमशः

जीव को फिर जन्म-मरण के चक्र में आना पड़ता है। और संसार में जीवन की इच्छा से फिर वासनाओं के जाल में फंसना पड़ता है। अतः वासनाएँ प्रवाह से अनादि हैं।

मोक्ष में वासनाओं का अभाव—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥

यो० ४ पा० ११ सू० ॥

अर्थात् ये वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से संगृहीत होती हैं, इसलिए इन हेतु आदि के अभाव में वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। हेतु=क्लेश और कर्म को कहते हैं। फल नाम जाति आयु और भोग का है। अधिकार सहित चित्त, वासनाओं का भण्डार होने से आश्रय और इन्द्रियों के विषयों को आलम्बन कहते हैं। इन हेतु आदि को उपस्थित होने पर वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और इनके अभाव में वासनाओं का भी अभाव हो जाता है। अतः वासनाओं का मोक्ष में अभाव ही रहता है। व्यासभाष्य में इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

'मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते ॥' (व्यासभाष्यम)

अर्थात् मन वासनाओं का आश्रय है। (मोक्ष के समय) अवसिताधिकार=समाप्त गुणाधिकार वाले चित्त में निराश्रय वासनाएँ ठहरने में समर्थ नहीं हो सकतीं।

क्या चित्त ही सब कुछ है ? (अनात्मवादी बौद्धों की मान्यता का खण्डन)

प्रश्न—चित्त (विज्ञान) ही एक वस्तु है,। ज्ञान-ज्ञेय, अथवा कारण-कार्यभेद से भिन्न वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि सभी वस्तुओं का मूलकारण सत्त्व-रजस्-तमस् गुण हैं।

परिणामैकत्त्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ यो० ४ पा० १४ सू० ॥

अर्थात् प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थिति शील सत्त्वादि गुणों का सब परिणाम होने से करण (साधन) इन्द्रिय या चित्त और ग्राह्य शब्द, रसादि भेद क्यों हैं ?

(ख) 'जब तक ३६००० वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना, क्या छोटी बात है।' (सत्यार्थ० नवमसमुल्लास)

उत्तर—(क) वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।।

यो० ४ पा० १५ सू० ।।

वस्तु की समानता होने पर भी चित्त के भेद से ज्ञान तथा ज्ञेय का अलग २ मार्ग है। वस्तु एक होने पर भी चित्त को धर्म के कारण सुख-ज्ञान, अधर्म के कारण दुःखज्ञान, अविद्या के कारण मूढ़ताज्ञान और सम्यग्दर्शन के कारण उदासीन-ज्ञान होता है। जैसे स्त्री एक वस्तु है, उससे पति के चित्त को सुख, सपत्नी के चित्त को दुःख, और संन्यासी के चित्त को वैराग्य हो जाता है। यदि स्त्री रूप वस्तु चित्त से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता-वाली न होती, तो उपर्युक्त निदर्शन में अनेक चित्तवाले व्यक्ति उसे भिन्न भिन्न रूपों में न देख सकते अतः स्पष्ट है कि चित्त और ज्ञेय पदार्थ भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं।

(ख) न चेक चित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रामाणकं तदा किं स्यात् ।।

यो० ४ पा० १६ सू० ।।

अर्थात् वस्तु एक चित्त के ही अधीन नहीं है। यदि एक चित्त के ही अधीन हो तो व्यग्र या निरुद्ध चित्त होने पर वह वस्तु अस्वरूप ही हो जावे अथवा किसी से गृहीत न हो सके। इसलिए सब वस्तुएँ तथा प्रत्येक पुरुष का चित्त भी स्वतन्त्र है।

(ग) तदुपरागापेक्षितत्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ।।

यो० ४ पा० १७ सूत्र ।।

चित्त को उपराग की अपेक्षा होने से वस्तु ज्ञात तथा अज्ञात होती है। विषय चुम्बक के समान तथा चित्त लोहे के समान है। अतः चित्त विषयों की तरफ भागता है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत् प्रभोः पुरुषस्यऽपरिणामित्वात् ।।

(यो० ४ पा० १८ सू०)

अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात होती हैं क्योंकि चित्त के स्वामी पुरुष (जीवात्मा) के अपरिणामी होने से, चित्त परिणामी है, अतः उसे वस्तु के ज्ञान के लिए उपराग की अपेक्षा होती है। परन्तु चित्त का स्वामी आत्मा अपरिणामी है, अतः वह चित्त की वृत्तियों का ज्ञाता है।

(घ) चित्त को ही अपने आभास वाला क्यों नहीं मान लिया जाए ? इसका उत्तर देते हैं—

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ।। यो० ४ पा० १६ सूत्र ।।

चित्त स्वयं प्रकाश वाला नहीं है, दृश्य होने से। क्योंकि दृश्य वस्तु प्राकृतिक होने से जड़ और चेतना के प्रकाश से शून्य होती है। और द्रष्टा होने से पुरुष (जीवात्मा) ज्ञान और चेतना का प्रकाशक है। यहाँ अग्नि का दृष्टान्त ठीक नहीं है। अग्नि अपने अप्रकाश स्वरूप को प्रकाशित करती है ऐसा नहीं है। और यह प्रकाश प्रकाश्य-प्रकाशक के संयोग से ही दृष्ट होता है। स्वरूपमात्र में संयोग कभी नहीं होता।

(ङ) एकसमये चोभयानवधारणम् ।। यो० ४ पा० २० सूत्र ।।

यदि आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार न की जावे और चित्त ही को सब कुछ मान लिया जाए, जैसा कि क्षणिकवादी-अनात्मवादी कहते हैं, तब उसका फल यह होगा कि चित्त और उसके विषय घटपटादि का एक समय में ग्रहण न हो सकेगा। क्योंकि चित्त और उसके विषय घट-पटादि दोनों ही प्राकृतिक दोने से जड़ और परिणामी हैं। अतः जीवात्मा चित्त से भिन्न और अपरिणामी है।

(च) चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसङ्करश्च ।।
यो० ४ पा० २१ सू० ।।

यदि यह मान लिया जाए कि एक चित्त को अन्य चित्त का दृश्य मान लिया जाए और आत्मा को बिना माने ही कार्यसिद्धि हो जायेगी। इसका उत्तर दर्शनकार यह देते हैं—

यदि एक चित्त को दुसरे चित्त का दृश्य मानें, तो चित्त का चित्त मानना रूप अतिप्रसंग=अनवस्था दोष आ जायेगा और स्मृति का संकर होगा। भाव यह है—अनात्मवादी एक चित्त को दूसरे चित्त का द्रष्टा मानें, तो फिर उसका द्रष्टा तीसरे चित्त को, तीसरे का द्रष्टा चौथे को इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। इसके सिवाय यह दोष भी होगा कि चित्त स्मृति का भण्डार है। चित्त के द्रष्टा और दृश्य बनने रूप चक्र में स्मृति में संकर (गड़बड़) दोष आ जायेगा। अतः आत्मा को चित्त से भिन्न मानना आवश्यक है।

(छ) चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।।
यो० ४। २२ सूत्र० ।।

अर्थात् चेतन और अपरिणामी जीवात्मा के उस (चित्त) के आकार

को प्राप्त होने पर अपने चित्त का ज्ञान होता है।

यहां चित्त के आकार वाला जीवात्मा के हो जाने का यह अभिप्राय नहीं है, कि आत्मा सचमुच ही अपने स्वरूप को छोड़ चित्ताकार बन जाता है। उसका आशय यह है कि जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होती है, किन्तु उसके पास किसी भी लाल पीले आदि रंग फूल रखने से वह स्फटिकमणि उसी रंग का दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जीवात्मा शुद्ध आकार रहित तथा अप्राकृतिक है। परन्तु सत्त्वादि गुणों वाले चित्त के समीप होने से जीवात्मा चित्ताकार सा प्रतीत होने लगता है। आत्मा में चित्त का इस प्रकार आभास होने से आत्मा को चित्त का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। अतः यह माना जाता है—

द्रष्टृ-दृश्योपरक्तचित्तं सर्वार्थम् ॥ योग० ४ पा० २३ सू० ॥

अर्थात् चित्त जिस समय द्रष्टा जीवात्मा से उपरक्त होता है, तब वह द्रष्टा प्रतीत होने लगता है। और जब दृश्यों से उपरक्त होता है तब दृश्य प्रतीत होने लगता है। इन दोनों से उपरक्त होने से चित्त सर्वार्थ= अर्थात् सर्वरूपाकार निर्भास हो जाता है। इस प्रकार चित्त के द्रष्टा और दृश्य दोनों से उपरक्त होकर दोनों के रूप में प्रतीत होने से अनात्मवादी बौद्धादि मतों के विद्वान् चित्त ही को सब कुछ समझकर आत्मा का खण्डन करते हैं किन्तु यह उनकी भ्रान्ति तथा अज्ञान है। और चेतन आत्मा के बिना चित्त का मूल्य एक तुच्छ मिट्टी के ढेले से बढ़कर कुछ नहीं है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥
(योग० ४ पा० २४ सू०)

वह आत्मा से भिन्न चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित भी चेतन आत्मा के भोग व अपवर्ग के लिए ही है। क्योंकि जीवात्मा से मिलकर ही चित्त काम करता है। चित्त अचेतन होने से स्वयं कार्य नहीं कर सकता। व्यासभाष्य में 'संहत्यकारित्वाद् गृहवत्' लिखा है। अर्थात् जैसे घर किसी घर वाले पुरुष के साथ ही उपयुक्त होता है, अपने लिए नहीं, वैसे चित्त परतन्त्र होने से पुरुष के लिए है, पुरुष स्वतन्त्र व चेतन है।

चित्त में किस प्रकार की नित्यता है—

योग० ४। ३३ सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि लिखते हैं—

'द्वयी चेयं नित्यता कूटस्थनित्यता परिणामनित्यता च। तत्र कूटस्थ-

नित्यता पुरुषस्य, परिणामनित्यता गुणानाम् ।' अर्थात् नित्यता दो प्रकार की होती है—कूटस्थनित्यता तथा परिणामनित्यता। उनमें कूटस्थ नित्यता=एकरस नित्यता (अविकार नित्यता) आत्मा की है और परिणाम नित्यता सत्त्वादि गुणों की है। अतः चित्त, बुद्धि आदि गुणधर्म वाले होने से परिणाम नित्यता वाले हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'यस्मिन् परिणाम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् ।' (व्यास०) परिणाम को प्राप्त होती हुई जिस वस्तु में तत्त्व=उसका स्वरूप नष्ट न हो, वह वस्तु नित्य है। अतः सत्त्वादि गुणों वाला होने से चित्त में परिणाम-नित्यता है।

'बुद्धि' अन्तःकरण की एक वृत्ति है—

बुद्धि-तत्त्व क्या है ? इस विषय में योगदर्शन में जो वर्णन मिलते हैं, उन को यहां संक्षेप में दिया जाता है—

(१) बुद्धि अन्तःकरण की वृत्ति है—योग दर्शन में मन के लिए प्रायः 'चित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है 'हृदये चित्त संवित्' (योग० ३।३४) सूत्र के भाष्य में व्यास मुनि लिखते हैं—'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित्'। अर्थात् इस शरीर में जो गुप्त कमलगृह=हृदय है, उसमें विज्ञान=अनुभव सामर्थ्य है, वहाँ संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि हृदयस्थ अन्तःकरण में ही विज्ञान का स्थान है।

(२) बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यता प्रत्ययेन परिणतम् ।। (योग० ३ । ३५ व्यासभाष्य)

अर्थात् बुद्धि और पुरुष दोनों अत्यन्त भिन्न होते भी अभेद प्रतिभान होता है। बुद्धिवस्तुप्रख्याशील=सत्त्वगुण की बीज शक्तिवाली है, वह समान सत्त्व के साथ सम्बन्ध करने वाले रजोगुण-तमोगुण को वश में करके वस्तु और पुरुष के भिन्नता रूप प्रतीति भान से परिवर्त्तित हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि बुद्धितत्त्व सतोगुणादि से युक्त है।

(३) योग दर्शन के २ । ६ सूत्र पर व्यासमुनि लिखते हैं—

'पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते।' अर्थात् चेतन पुरुष दृक्शक्ति=द्रष्टृ-शक्ति (देखने वाला) है और बुद्धि दर्शनशक्ति (ज्ञान का साधन) है। इन दोनों की एक रूपावस्था जैसी प्रतीति अस्मिता क्लेश कहा जाता है।

(४) योग दर्शन ४। ३३ सूत्र के भाष्य में व्यासमुनि लिखते हैं—

'तत्र गुणधर्मेषु बुद्धयादिषु०' अर्थात् बुद्धि आदि गुण धर्म वाले हैं। और यो० ३। ४७ सूत्र के भाष्य में 'प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य' कह कर बुद्धि को प्रकाशात्मक (सत्त्वगुण प्रधान) माना है।

उपर्युक्त स्थलों पर बुद्धि को सत्त्वगुण प्रधान बताया है। और यह चित्त की ही एक वृत्ति होती है, उससे पृथक् नहीं। क्योंकि व्यासमुनि ने (योग० १। २) सूत्र के भाष्य में चित्त को त्रिगुण बताते हुए लिखा है—

"चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति"॥

अर्थात् चित्त वस्तुतः प्रख्या=कान्ति, प्रवृत्ति=प्रगति तथा स्थिति=निवृत्ति स्वभाव वाला है। यह 'सत्त्वरजस्तमः' गुणों का बीजभाव वाला होने से त्रिगुणी है। सत्त्वप्रधान चित्त 'रजस्तमः' गुणों से ससृष्ट होता हुआ ऐश्वर्यप्रिय होता है; और वही चित्त तमोगुण की प्रधानता होने पर अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, तथा अनैश्वर्य को प्राप्त कराता है।

योगदर्शन में चित्त, मन तथा बुद्धि शब्दों को पर्यायवाची मानकर ही प्रयोग किया है। सम्पूर्ण दर्शन में अन्तःकरण के लिए चित्त शब्द का बाहुल्य से प्रयोग है और जैसे चित्त को ऊपर त्रिगुणी माना है, वैसे ही बुद्धि को भी त्रिगुणी मानते हुए व्यास मुनि लिखते हैं—

'प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः॥ २। १५ व्यास भा०॥

अर्थात् बुद्धि=चित्त के सत्त्व-रजस्-तमोरूप गुण शान्त, घोर या मूढ़ प्रतिभान को उत्पन्न करते हैं। 'चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि-चित्तमुक्तम्' (योग० २। १५ व्यास०) गुणों का व्यवहार अस्थिर और चित्त को शीघ्र परिणामी कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि जो सांख्यदर्शन में ज्ञानादि बुद्धि के धर्म माने हैं, वे ही योगदर्शन में चित्त के माने हैं। अतः बुद्धि को चित्त की अथवा अन्तःकरण की ही एक वृत्ति मानना उचित है, न्यायदर्शन में भी इसी बात की पुष्टि की गई है—

'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः; मनोऽत्राभिप्रेतम्।" (वात्स्यायनभाष्य०)

अर्थात् ज्ञान का साधन बुद्धि मन ही है; और 'बुद्धि' शब्द जहाँ

ज्ञान का वाचक है, वहाँ वह गुण है। दर्शनों के इस विशिष्ट-रहस्य को अवश्य समझना चाहिए।

महर्षि दयानन्द और मनोविज्ञान—

(१) शिक्षा में महर्षि-मनोविज्ञान का महत्त्व।
(२) मन की उत्पत्ति।
(३) मन का स्वरूप।
(४) मन की वृत्तियाँ।
(५) वृत्तियों का निरोध के उपाय।
(६) मन की स्थिरता कहाँ करे?
(७) मनोविजय कैसे होता है?
(८) मन की शक्ति के उपाय।
(९) मन का शरीर में स्थान।
(१०) मुक्ति के लिए किन गुणों को धारण करें?
(११) मन के त्रिविध गुणों का वर्णन।
(१२) त्रिविध गुणों का फलोदय।
(१३) मन पर-शरीरों में नहीं जाता।
(१४) मन जड़ है।
(१५) मन सूक्ष्मशरीर का एक घटक है।
(१६) मोक्ष में अन्तःकरण आत्मा के साथ नहीं रहते।
(१७) बुद्ध्यादि मन की वृत्तियाँ हैं।

(१८) विविध—अर्थात् मानसरोग, ज्ञान कैसे होता है, मन द्रव्य है गुण नहीं, बुद्धि क्या है, मन की जीत सुख का साधन, जितेन्द्रिय राजा ही सुशासक, परमेश्वरसुखानुभूति अन्तःकरण से, अन्तःकरण जीव के आधीन, मन बर्हिर्मुख कैसे होता है, अन्तःकरण की परिपक्वता (तप),।

(१९) मन साकार पदार्थों में स्थिर नहीं होता।
(२०) कर्मफलभोक्ता जीव है, मन नहीं।
(२१) मनादि के साक्षात्कार का उपाय।

(२२) मानस कर्मों का फल मन से भोगा जाता है।
(२३) मन का संयम धर्म है।
(२४) अन्तःकरण परम सूक्ष्म है।
(२५) मन का योग बाह्य तथा आभ्यन्तर क्रियाओं से।
(२६) मन की शान्ति के विना पठनादि निरर्थक हैं।
(२७) मन देव है।
(२८) मनों का साक्षी परमेश्वर है।
(२९) मन की जीत से इन्द्रियजय।
(३०) ज्ञान-प्रक्रिया।
(३१) मानसिक दुःख।
(३२) मन की गणना देवों में की है।
(३३) मन शब्द के विभिन्न अर्थ।
(३४) मन इन्द्रिय है।
(३५) बुद्धयादि से आत्मा भिन्न है।
(३६) हृदय शब्द का मन के अर्थ में प्रयोग।
(३७) चित्त के नौ विक्षेप।

(३८) मन में क्लेश और उनकी वासनाएँ रहती हैं, आत्मा में नहीं। मनोविज्ञान के उपर्युक्त विषयों पर महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में विचार किया है। इस सूक्ष्म तथा गहन विषय पर महर्षि के अलौकिक विचारों पर विद्वानों को अवश्य मनन तथा क्रियान्वित करना चाहिए। तभी मानव-जीवन के पुरुषार्थों की सिद्धि हो सकती है।

शिक्षा में महर्षि-मनोविज्ञान का महत्त्व—

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व माना है। शिक्षा के दृश्य-श्रव्य उभयविध साधनों में मनादि अन्तःकरण का विशेष महत्त्व है। शिक्षा के क्षेत्र में इन्द्रिय, मनादि के संयम के अतिरिक्त उनकी शुद्धि भी परमावश्यक है। महर्षि ने गर्भाधान से ही इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है। महर्षि के लेखों से इस बात की प्रबल पुष्टि होती है। देखिए—

(१) "माता-पिता को अति उचित है कि गर्भाधान से पूर्व, मध्य, और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य, दुर्गन्ध, रुक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़कर जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, और सुशीलता से सभ्यता प्राप्त

करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपानादि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें।"
(सत्यार्थ० २ समु०)

(२) "जो कोई दरिद्र हो, धायी को न रख सकें, तो वे गाय या बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, करनेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजो, ओटा, छान के दूध के समान जल मिला के बालक को पिलावें।" (सत्यार्थ० २ समु०)

(३) "बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हो, और अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें।......जब वह कुछ २ बोलने लगे और समझने लगे, तब सुन्दर वाणी और बडे, छोटे, मान्य पिता-माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें।" (सत्यार्थ० २ समु०)

(४) "देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि--विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण, और स्पर्शादि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उच्चत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें।" (सत्यार्थ० २ समु०)

(५) "जैसे अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोहादि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें।"(सत्यार्थ० २ समु०)

(६) "जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें। किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।" (सत्यार्थ० ३ समु०)

(७) (क) "जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर-क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।"

(ख) "पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा

नगर रहे। सबको तुल्यवस्त्र, खान-पान, आसन दिए जाएँ, चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें।" (सत्यार्थ० ३ समु०)

(८) (क) "यमों के बिना केवल नियमों का सेवन न करें किन्तु इन दोनों का सेवन किया करें।"

(ख) आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे कि तू सदा सत्य बोल, धर्माचार कर, प्रमाद रहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्णब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का ग्रहण......जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों, उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण, उनको कभी मत कर इत्यादि।" (सत्यार्थ० ३ समु०)

(९) (क) "परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, और उपासना की रीति सिखलावे।"

(ख) "वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामी स्वरूप हमको दुष्टाचार अधर्मयुक्त मार्ग से हटा के श्रेष्ठाचार मार्ग में चलावें। उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग न करें।"

(सत्यार्थ० ३ समु०)

(१०) "(शमः) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटा के पढ़ते पढ़ाते जाएँ।"

"(दमः) बाह्य-इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जाएँ।" (सत्यार्थ० ३ समु०)

उपर्युद्धृत महर्षि के कतिपय प्रकरणों पर जब हम विचार करते हैं, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि ने मनोविज्ञान का बहुत ही अधिक ध्यान दिया है। बच्चे के निर्माण समय से ही यह परम आवश्यक है कि बच्चे का आहार तथा वातावरण ऐसा होना चाहिए कि जिससे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों के विकास के साथ सत्त्वगुण तथा शुद्ध विचारों की प्रधानता मिल सके। उसके अन्तःकरण पर ऐसा कोई प्रभाव न पड़े कि वह राग, द्वेषादि के प्रभाववश दुस्स्वभाव वाला हो जाए। उसको मादक मद्यादि आहार तथा बुरी संगति से बचाकर अच्छे बच्चों की

संगति में ही रक्खा जाय। उसे बचपन से ही ऐसे दृश्य तथा श्रव्य साधन उपलब्ध कराएँ जो भद्र=कल्याणकारक हों। शिक्षा के लिए सदाचारी, धार्मिक तथा विद्वान् गुरु के पास ही भेजा जाए, जो उसके सर्वाङ्गीण विकास की समुचित शिक्षा दे सके। उस शिक्षा में नैतिक, चरित्र-निर्माण करने वाली शिक्षा की ही प्रमुखता होनी चाहिए। शिक्षा के आदिगुरु परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना तथा उपासना भी अवश्य सिखाएँ। क्योंकि वह परमेश्वर मनीषी=मन का साक्षी है। उसी के दृढ़ विश्वास तथा उपासना से बच्चा मानसिक दुर्गुणों तथा दुर्व्यसनों से सुरक्षित रह सकता है, और जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं के प्रभाव से भी बच सकता है।

महर्षि ने शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व समझकर ही सत्यार्थप्रकाश के २-३ समुल्लासों में विशेष बल दिया है। महर्षि के उन अमूल्य एवं उपयोगी परामर्शों को भुला कर शिक्षा में मनोविज्ञान का कोई भी लाभ नहीं प्राप्त किया जा सकता। मानस-पटल के कलुषित होने पर कितनी भी शिक्षाएँ दी जाएँ, उनका प्रभाव नगण्य ही होता है। महर्षि ने मन की शुद्धि के लिए अष्टविध मैथुनों के परित्याग पर विशेष बल दिया है। आधुनिक-शिक्षा में उनके परित्याग तो दूर रहा, उनके प्रवर्धक साधनों के कारण मानस-पटल की शुद्धि वन्ध्या-पुत्र की भाँति असम्भव ही है। और अशुद्ध मन पर शुद्धि विद्यादि गुणों का कैसे प्रभाव हो सकता है?

महर्षि ने प्राचीन शास्त्रों के गम्भीराध्ययन तथा चिन्तन करके ही मन की रचना, मन का स्वरूप, मन का स्थान, मन की वृत्तियाँ तथा निरोध का उपाय, तथा मन के राग-द्वेषादि मल तथा उनका दूरीकरण का उपाय, आदि बताए हैं। इनको न समझ कर अथवा इनके अनुसार न चलकर क्या हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं? कदापि नहीं। क्योंकि यह मनोविज्ञान की शाश्वत, सत्यविद्या ऋषि-महर्षियों ने घोर-तपस्या करके स्वयं साक्षात् अनुभवों के आधार पर लिखी है। इस सत्य-सनातन-पद्धति का परित्याग करने से शिक्षा के क्षेत्र में जो दोषों की भरमार हो गई है, जिसके फलस्वरूप शिक्षा शिक्षा ही नहीं रही, प्रत्युत दोषावह बनकर साक्षर राक्षस बना रही है। आचार्य यास्क ने सत्य ही कहा है—

"यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ (निरुक्त)

अर्थात् जो छात्र मन, वाणी तथा शारीरिक दोषों से रहित होने

से शुद्ध है, जो प्रमादादि दोषों से रहित है, जिसने मादक मद्यादि को त्याग कर मेधाबुद्धि को प्राप्त किया है, और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करता है, उसे ही शिक्षा देनी चाहिए। अन्यथा विद्या कभी सफल नहीं होगी। प्राचीन काल में तीन समिधाएँ लेकर विद्यार्थी गुरु के चरणों में जाता था। उसका भाव भी यही था कि शिष्य समिधाओं से अपने भावों को प्रकट करता था कि गुरुवर! मैं मन, वाणी तथा शरीर से स्वस्थ तथा शुद्ध हूँ। मुझ में इन शुष्क तथा शुद्ध समिधाओं की भाँति ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करो।

यदि आज हम महर्षि की वेदादि शास्त्रों के मन्थन तथा योगाभ्यास से परिपक्व शास्त्रसम्मत मान्यताओं को मान कर चलेंगे, तो हमें सन्मार्ग पर चलने से यथार्थ में सफलता मिलेगी। अन्यथा गन्दगी से भरे पात्र में शुद्ध जल डालने पर भी शुद्धि की क्या आशा होगी?

मन की उत्पत्ति—महर्षि दयानन्द ने मन की उत्पत्ति अहंकार से मानते हुए लिखा है—

(क) "जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृति रूप कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम **महत्तत्त्व** और उससे कुछ स्थूल है, उसका नाम **अहंकार** और अहंकार से **भिन्न-भिन्न पाञ्च सूक्ष्मभूत**, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण, **पाञ्च ज्ञान इन्द्रियां**, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाञ्च कर्म-इन्द्रिय हैं और **ग्यारहवां मन** कुछ स्थूल उत्पन्न होता है और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से **पाञ्च स्थूलभूत** जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं।

(सत्यार्थ० अष्टम समु०)

(ख) 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः०' इस सांख्यसूत्र की व्याख्या में महर्षि **मन को अहंकार का विकार** मानते हुए लिखते हैं—"सत्त्व=शुद्ध, रजः=मध्य, तमः=जाड्य, अर्थात् जडता, तीन वस्तु मिल कर जो एक संघात है, उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व=बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पाञ्चतन्मात्रा सूक्ष्मभूत और **दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन**, पाञ्च तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाञ्चभूत, ये चौबीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। इनमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पाञ्च सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य और

इन्द्रियां, मन तथा स्थूलभूतों का कारण है। पुरुष न किसी की प्रकृति= उपादानकारण और किसी का कार्य है।"

(ग) **"प्रकाश के परमाणुओं से मन** और पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्यादि को ईश्वर रचता है और अन्धकार रूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है।"

(ऋ० भा० भू० २६० पृ०)

इस प्रकार मन की उत्पत्ति महर्षि ने अहंकार से मानी है। अहंकार महत्तत्त्व का विकार और महत्तत्त्व प्रकृति का विकार है। इस प्रकार मन प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणात्मक तथा जड़ है। इसमें जो भी प्रकृति तथा ज्ञानग्राहकता है, वह सब जीवात्मा के कारण है।

मन का स्वरूप—(क) 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' इस (न्याय० १।१।१६) सूत्र के अनुसार महर्षि ने मन का स्वरूप इस प्रकार माना है—जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण-ज्ञान नहीं होता, उसको मन कहते हैं।" (सत्यार्थ० ३ समु०)

(ख) ऋग्वेद ८।४।४६।३ के 'समानो मन्त्रः' मन्त्र का अर्थ करते हुए महर्षि ने मन व चित्त की व्याख्या इस प्रकार की है—

"शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम **मन** है। उससे सदा पुरुषार्थ करो। जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा चित्त उसको कहते हैं कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह तुम्हारा एक सा हो।" (ऋ० भा० भू० वेदोक्त० ६४ पृ०)

(ग) यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के 'यज्जाग्रतो०' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या में महर्षि ने मन का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

(१) "जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (दैवम्) ज्ञानादि दिव्य गुण वाला तथा प्रकाश स्वरूप रहता है। वैसे ही निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करने वाला और एक है।"

(ऋ० भू० १५३ पृ०)

"ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्"

यहां संस्कृत में कुछ अधिक स्पष्ट किया गया है अर्थात् मन इन्द्रियों का तथा सूर्यादि=प्राणादि का प्रकाशक है।)

(घ) ऋग्वेद के 'समानमस्तु वो मनः' (ऋ० ८। ८। ४९। ४) मन्त्र में पठित 'मनः' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"(कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव०।" (शतपथ० का० १४ अ० ४)

"मनः शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायें"—

"(कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना, इसका नाम काम है।

(संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों के प्राप्त होने के लिए प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है, उसको संकल्प कहते हैं।

(विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शंका कर कर के ठीक निश्चय करने के लिए जो सन्देह करना है उनका माम विचिकित्सा है।

(श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको श्रद्धा जानना।

(अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने, और अन्यायादि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिए।

(धृतिः) जो सुख-दुःख-हानि-लाभ आदि होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना, उसका नाम धृति है।

(अधृतिः) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं।

(ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको ह्री कहते हैं।

(धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है, उसको 'धीः' कहते हैं।

(भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उल्टे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब

कामों को सब प्रकार से देखता है, ऐसा जानकर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूँगा, तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा, इत्यादि गुणवाली वस्तु का नाम मन है।" (ऋ० भू० ९६ पृ० वेदोक्तधर्मविषयः)

मन की वृत्तियां—महर्षि दयानन्द ने 'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः' (योग० १।६) इस सूत्र का अर्थ करते हुए लिखा है—

'सब जीवों के मन से पाञ्च प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट, दूसरा अक्लिष्ट अर्थात् क्लेश सहित और क्लेश रहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है, उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेश सहित और जो पूर्वोक्त उपासक हैं, उनकी क्लेशरहित शान्त होती है। वे पाञ्च वृत्तियाँ ये हैं—

पहली (प्रमाण) दूसरी (विपर्यय) तीसरी (विकल्प) चौथी (निद्रा) और पाञ्चवीं (स्मृति)। उनके विभाग और लक्षण ये हैं—

१. (प्रमाण)—इस की व्याख्या वेद-विषय के होम प्रकरण में लिख दी है। (प्रत्यक्षादि प्रमाण की व्याख्या योगदर्शन के प्रकरण में देख सकते हैं।)

२. (विपर्यय)—दूसरी विपर्यय कि जिससे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको विपर्यय कहते हैं।

३. (विकल्प) तीसरी विकल्पवृत्ति, जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे, इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सींग वाले मनुष्य होते होंगे, ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं। सो झूठी बात है अर्थात् जिसका शब्द तो हो, परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम विकल्प है।

४. (निद्रा) चौथी निद्रा अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अंधकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम निद्रा है।

५. (स्मृति)—पाञ्चवीं स्मृति अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता है और उस विषय को भूले नहीं, इस वृत्ति को स्मृति कहते हैं।

(ऋ० भू० १९६ पृ० उपासनाविषयः)

मन की तीन वृत्तियां--महर्षि दयानन्द ने 'प्राणापाननिमेष०, (वैशेषिक०) सूत्र की व्याख्या में मन की व्याख्या में तीन वृत्तियां भी मानी हैं—

(क) 'मनः=निश्चय, स्मरण, और अहंकार करना।'

(सत्यार्थ० सप्तम०)

(ख) स्मरणात्मक वृत्ति अर्थात् चित्त मन ही है, भिन्न नहीं। इस विषय में यजु० के 'यस्मिन्नृचः' मन्त्र की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं—

"जिसमें सब प्रजा की चित्त=**जो स्मरण करने की वृत्ति है**, सो सब गंठी भई है जैसे माला के मणिए सूत्र में गंठे भए होते हैं…………ऐसा जो मेरा मन है।" (ऋ० भू० पृ० ८)

(१) "जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा, **निश्चयात्मक-वृत्ति है**। और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाश युक्त **नाशरहित** है। जिसके बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता, वह मेरा मन०।"

(२) "जिससे सब योगी लोग इन सब भूत भविष्यत् वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाश रहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है, पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और **आत्मायुक्त रहता है**, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन०।"

(३) "मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है, जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन०।"

(४) "मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है। जो **हृदय में प्रतिष्ठित**, गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है, वह सब **इन्द्रियों को अधर्माचरण से** रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे।" (सत्यार्थ० सप्तम सम्०)

उपर्युक्त यजुर्वेद के चार मन्त्रों के अर्थ महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश में किए हैं। इनसे निम्न तथ्यों का स्पष्टीकरण होता है—

(क) स्मरण करने वाले चितवृत्ति तथा निश्चय करने वाली बुद्धि वृत्ति मन की ही वृत्तियाँ हैं। मन से भिन्न चित्त और बुद्धि नहीं है।

(ख) मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है, और यह जन्म-जन्मान्तरों में भी जीवात्मा के साथ रहता है, और इस भौतिक शरीर के साथ नष्ट न होने से इसे अमृत=नाश रहित कहा है। किन्तु यह भी प्रकृति के अहंकार का परिणाम है, अतः जीव के साथ मुक्ति पर्यन्त ही रहता है।

(ग) मन का स्थान हृदय है।

(घ) मन के संयम से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

(ङ) मन ज्ञानेन्द्रिय तथा आत्मा से युक्त होकर ही काम करता है। अतः शरीर से बाहर दूसरे शरीर में मन के प्रवेश की बात मिथ्या तथा कल्पित ही है।

मन की वृत्तियों के निरोध के उपाय—

"इन पाँच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि—

(१) अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ योग० ॥

जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे, वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनका उपासनायोग में प्रवृत्त रखना।"

(ऋ० भू० उपासनाविषयः)

वृत्ति-निरोध का प्रयोजन—

(क) "प्रश्न—जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है? इसका उत्तर यह है कि—जैसे जल के प्रवाह को एक ओर दृढ़ बांध के रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चल के कहीं स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। एक तो चित्त की वृत्ति रोकने का यह प्रयोजन है। और दूसरा यह है कि—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ योग० ॥

अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष-शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोक रूप दुःख सागर में ही डूबी रहती है। उपासक योगी की

तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृति सदा अंधकार में फंसती जाती है।" (ऋ० भू० उपासना०)

(ख) "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥

ये योगशास्त्र पातञ्जल के सूत्र हैं—मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक, शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त का ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना।

जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है।" (सत्यार्थ नवम समु०)

(२) "प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ योग० १ । ३४ ॥

जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुख पूर्वक जितना बन सके, उतना बाहर ही रोक दे, पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है।

(३) मैत्रीकरुणामुदितापेक्षाणाम्० (योग० १ । ३३)

मैत्री अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना, दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी, पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता, पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना, इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्य धर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है।"

(ऋ० भू० उपासना० पृ० १७२)

मन की स्थिरता कहां करे—

(क) "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (योग० ३ । १)

मन को चञ्चलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मन, मस्तक, नासिका, और जीभ के अग्रभागादि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और

उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना।"

(ऋ० भू० उपासना० पृ० १७८)

(ख) "इन्द्रियों को रोककर मन को नाभिप्रदेश, हृदयादि स्थानों पर स्थिर करें।" (सत्यार्थ० सप्तम०)

मनो विजय कैसे होता है—

(क) "मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय, और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय होता है।" (ऋ० भू० २९० पृ०)

(ख) "मन के विज्ञानादि गुण हैं। वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं।" (ऋ० भू० पृ० ११२)

मन (अन्तःकरण) की शुद्धि का उपाय—

(१) "जब इन साधनों (यम=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, और नियम=शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान) को करता है, तब उसका आत्मा और **अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य** से पूर्ण हो जाता है।" (सत्यार्थप्रकाश सप्तम समु०)

(२) (क) "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥ मनु०॥

जल से शरीर के बाहर के अवयव, **सत्याचरण से मन**, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के धर्म ही के अनुष्ठान करने जीव-आत्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़ निश्चय पवित्र होता है।" (सत्यार्थ ३ समु०)

(ख) "किन्तु जल से ऊपर के अंग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं। मन तो सत्य मानने, सत्य बोलने, और सत्य करने से शुद्ध०।"

(संस्कारविधि गृहाश्रम०)

३. (क) प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ योग०॥

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता है। जब तक मुक्ति न हो, तब तक उसके आत्मा में ज्ञान बराबर बढ़ता रहता है"। (सत्यार्थ ३ समु०)

(ख) दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु०॥

"जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट हो कर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं।" (सत्यार्थ ३ समु०)

(ग) "इस प्रकार करने से (प्राणायाम और ओ३म् के जप से) आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।" (सत्यार्थ ३ समु०)

(घ) "प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियां भी स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र=सुक्ष्म रूप हो जाती है।

(सत्यार्थ ३ समु०)

(४) 'जो मनुष्य ४४ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, आत्मा बल युक्त हो के सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करने हारे होते है।' (सत्यार्थ ३ समु०)

(५) 'जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं, वही सब वेदान्त अर्थात् सब के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है।"

(सत्यार्थ० समु०)

(६) "भीतर रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, अर्थात् सत्यासत्य के विवेक पूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से (बुद्धि) निश्चय पवित्र होता है।" (सत्यार्थ० ४ समु०)

(७) "नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रक्खें। क्योंकि इनके शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि०।" (सत्यार्थ० दशम समु०)

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।।

यह छान्दोग्य का वचन है अर्थात् शुद्ध आहार जो कि मद्य मांसादि-रहित घृत दुग्धादि चावल गेहूँ आदि के करने से अन्तःकरण की शुद्धि वल पुरुषार्थ, आरोग्य और बुद्धि की प्राप्ति होती है।" (संस्कारविधि० गर्भाधान०)

(९) धारणाभिश्च किल्विषम् ।।

"धारणाओं से अन्तःकरण के मैल को······भस्म कर देवे।"

(संस्कारविधि संन्यास०)

(१०) मन की अपवित्रता क्या है—

"(शौचम्) राग, द्वेष, मोहादि से मन और आत्मा को······सदा पवित्र रखना।" (संस्कारविधि गृहाश्रम०)

(११) "शौच से अन्तःकरण की शुद्धि मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय, तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है।" (ऋ० भू० उपासना० १७४ पृ०)

(१२) **मन की शुद्धि से लाभ—**

"मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्यज्ञान होता है और उसमें जो विज्ञानादि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनसे परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्यादि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र—और विद्यायुक्त करना है, ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्म-कार्य सिद्ध होते हैं।" (ऋ० भू० ११३ पृ०)

इस प्रकार महर्षि ने मन की शुद्धि के लिए राग, द्वेषादि मलों की शुद्धि, सत्याचरण, ईश्वरोपासना, विद्यावृद्धि करके अज्ञान दूर करना, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन, और 'ओ३म्' का जप करते हुए प्राणायाम द्वारा प्राणों को वश में करनादि उपाय बताए हैं।

मन का शरीर में स्थान—

यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के छठे मन्त्र में मन का स्थान शरीर में कहां है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है—

"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः०" ॥

जो (मन) हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है। इससे स्पष्ट है कि शरीर में मन का स्थान हृदय है। उपनयन तथा विवाह संस्कारों में भी हृदय पर स्पर्श करा कर मनों की समानता के लिए उपदेश किया जाता है। और हृदय में मन या अन्तःकरण के निवास स्थान होने से ही हृदय शब्द मन का भी पर्यायवाची है। इसीलिए वेदों में भी 'समाना हृदयानि वः' कह कर प्रार्थना की गई है।

वह हृदय-स्थान शरीर में कहां है? इस विषय में आर्य-विद्वानों में भी दो मत हैं। कुछ तो दो हृदय ही मान बैठे हैं, एक शिर में और दूसरा छाती में। किन्तु महर्षि दयानन्द ने हृदय स्थान का बड़ा ही स्पष्ट वर्णन किया है—

(क) "**कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो**

हृदय देश है" जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं।"

(ऋ० भू० १८० पृ०)

(ख) "(अत्यतिष्ठदशाङ्गुलम्) दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची हैं। अंगुलि शब्द अंग अवयववाची है। पाञ्च स्थूलभूत और पाञ्च सूक्ष्मभूत ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पाञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदय देश है, सो भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।"

(ऋ० भू० १२० पृ०)

इस महर्षि के दूसरे लेख से बहुत ही स्पष्ट है कि हृदय को दशाङ्गुल इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसके ५ प्राण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव अवयव के समान हैं। अर्थात् हृदय इनका निवास स्थान है।

मुक्ति के लिए किन गुणों को धारण करे ?

'मन' अहंकार का परिणाम है, अतः प्रकृति का विकार होने से उसमें सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव बना रहता है। कभी कोई गुण प्रधान होता है, तो दूसरा दबा रहता है। मुमुक्षु जीवों को मुक्ति के लिए सतोगण की प्रधानता रखनी आवश्यक है। इस विषय में महर्षि लिखते हैं—

"सदा तमोगुण अर्थात्—क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि, रजोगुण अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेपादि दोषों से अलग हो के सत्त्व अर्थात् शान्त प्रकृति, पवित्रता, विद्या, विचारादि गुणों को धारण करे।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

मन के त्रिविध गुणों का वर्णन—

"यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥ मनु०॥

अर्थ—जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है।

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजःस्मृतम्॥ मनु०॥

अर्थ—जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम, और जब रागः द्वेष में आत्मा लगे, तब रजोगुण जानना चाहिए।

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ।। मनु० ।।

अर्थ—जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न प्रशान्त के सदृश शुद्ध-भानयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं।

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजोऽप्रतिघं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ।। मनु० ।।

अर्थ—जब आत्मा और दुःखसंयुक्त प्रसन्नता रहित विषय में इधर-उधर गमन आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण और तमोगुण अप्रधान हैं।

यत्तु स्यान्मोह संयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ।। मनु० ।।

अर्थ—जो मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फंसा हुआ आत्मा और मन हो जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क रहित, जानने के योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझ में तमोगुण प्रधान और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं। (सत्यार्थ० नवम समु०)

त्रिविध गुणों का फलोदय—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ।। मनु० ।।

अर्थ—जो वेदों का अभ्यास, धर्मानुष्ठान, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म क्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है यही सत्त्वगुण का लक्षण है।

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ।। मनु० ।।

अर्थ—जो रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्य-त्याग, असत्कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना रजोगुण प्रधानता से मुझ में वर्त्त रहा है।

लोभो स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ।। मनु० ।।

अर्थ—जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न २ अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, जिस किसी से याचना अर्थात् मांगना, प्रमाद अर्थात् मद्यपानादि दुष्ट व्यसनों में फंसना होवे, तब समझना कि तमोगुण मुझमें बढ़ कर वर्त्तता है ।

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ।। मनु० ।।

अर्थ—तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थसंग्रह की इच्छा और सत्त्व गुण का लक्षण धर्मसेवा करना है परन्तु तमोगुण से रजोगुण, और रजोगुण से सत्त्वगुण श्रेष्ठ है । (सत्यार्थ० नवम समु०)

मन पर-शरीर में नहीं जाता—

एक यह भी प्रश्न महत्त्वपूर्ण विद्वानों का विवादास्पद रहा है कि क्या मन शरीर से बाहर भी जा सकता है । इस विषय में महर्षि का स्पष्ट मत यह है कि मन अपने शरीर से पर-शरीर में जीवात्मा से भिन्न होकर कभी नहीं जा सकता । इसमें महर्षि के विचार इस प्रकार हैं—

(१) मन को महर्षि ने प्रकृति का विकार होने से जड़ माना है । और अचेतन वस्तु स्वयं कुछ नहीं कर सकती ।

(२) मन को सूक्ष्म-शरीर का एक घटक माना है । जीवात्मा इस से आवेष्टित होता है और जन्म-जन्मातरों में जीवात्मा इसके आश्रय से जाता है । अतः मन जीवात्मा के मुक्ति होने तक साथ रहता है ।

(३) महर्षि ने मन (अन्तःकरण) को प्राणों के समान जीवात्मा के आधीन माना है, अतः मन परतन्त्र होने से आत्मा से भिन्न कैसे कार्य कर सकता है ।

(४) महर्षि ने शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या में दैवम्=देवे= आत्मनि भवम् लिखकर यह स्पष्ट लिखा है कि यह जीवात्मा के आश्रय से क्रिया में प्रवृत्त होता है पृथक् होकर नहीं ।

शिवसंकल्प-मन्त्रों में पठित 'सप्तहोता' पद की व्याख्या में महर्षि ने माना है कि यह मन पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है। इससे स्पष्ट है कि मन आत्मा से भिन्न होकर कदापि कुछ भी नहीं कर सकता।

(६) मन को समस्त शास्त्रों के अनुसार महर्षि ने अन्तःकरण माना है। और जो करण है, वह कभी भी कर्त्ता के बिना कार्य नहीं करता। इस प्रत्यक्ष के विरुद्ध मन को स्व-शरीर से पर शरीर में तथा जीवात्मा से भिन्न होकर दूसरे शरीरों में जाने की बातें कदापि सत्य नहीं हो सकतीं।

मन (अन्तःकरण) जड़ है—

(क) 'देह और अन्तःकरण जड हैं, उनको शीतोष्णप्राप्ति और भोग नहीं है। जैसे पत्थर को शीत और उष्ण का भान या भोग नहीं है। जो चेतन मनुष्यादि प्राणी, उसको स्पर्श करता है, उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड हैं। न उनको भूख, न पिपासा, किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा, तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है। न उसको हर्ष, न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष, शोक, दुःख, सुख का भोग जीव करता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

(ख) "अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

उपर्युक्त महर्षि के वचनों से स्पष्ट है, मनादि सब अन्तःकरण हैं, और वह प्रकृति का विकार होने से जड़ है। जो विद्वान् ऐसी मान्यता बनाए हुए हैं कि मन (अन्तःकरण) जीवात्मा का गुण या शक्ति है. उन्हें महर्षि के वचनों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ग) "जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है। क्योंकि बिना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग या पाप-पुण्य कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

(घ) "व्यान से जीव सब शरीर में चेष्टादि करता है।"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

(५) 'जिसके जीव के आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय, और अन्तः-करणादि हो।" (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

इत्यादि महर्षि के समस्त लेखों से मन को जड़ माना है। और यह जीवात्मा के आश्रय से कार्यों में प्रवृत्त होता है। यथार्थ में जीवात्मा ही कर्त्ता, ज्ञाता तथा भोक्ता है।

मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है—

महर्षि ने तीन शरीरों (स्थूल शरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर) की व्याख्या करते हुए सूक्ष्म-शरीर का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

"दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत, और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्म-शरीर' कहाता है। यह सूक्ष्म-शरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है। दूसरा स्वाभाविक्र जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप[1] है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में रहता है, इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

इस महर्षि के लेख से निम्न बातों का स्पष्टीकरण होता है—

(क) मन सूक्ष्म-शरीर का एक घटक है।

(ख) सूक्ष्म-शरीर सूक्ष्मभूतों के अंशों से निर्मित होने से मन भी सूक्ष्मभूतों के अंशों से निर्मित है।

(ग) सूक्ष्म-शरीर का एक घटक होने से मन जन्म-जन्मान्तरों में जीवात्मा के साथ रहता है।

(घ) भौतिक (सूक्ष्मभूतों के अंश से निर्मित) सूक्ष्म-शरीर का घटक मन मोक्ष में आत्मा के साथ नहीं रहता।

(१) (महर्षि ने जीवात्मा के निम्न २४ स्वाभाविक गुण माने हैं—

"(प्रश्न) उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है?

(उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति, भोग करता है।"
(सत्यार्थ० नवम समु०)

(ङ) बुद्धिवृत्ति यद्यपि मन की ही एक वृत्ति है। यह महर्षि के अन्य लेखों से सिद्ध है, किन्तु यहाँ मन से भिन्न बुद्धि को रखने से सन्देह अवश्य होता है। परन्तु 'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' यह निश्चयात्मक वृत्ति अन्तःकरण की ही एक वृत्ति है। ब्राह्मण-वसिष्ठन्याय से गौणप्रधान भाव दिखाने के लिए सम्भव है, इसको पृथक् दिखाया हो।

मोक्ष में अन्तःकरण आत्मा के साथ नहीं रहते—

(१) पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (योग० ४। ३४)

"अर्थात् कारण के सत्त्व, रजः और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान की वृद्धि यथावत् होके स्वरूप-प्रतिष्ठा जैसा जीवन का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप, विज्ञान, प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य=मोक्ष कहते हैं।"

(ऋ० भू० १८४ पृ०)

(२) "मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब...... संकल्प विकल्प करते समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त, और अहङ्कार के अर्थ अहंङ्काररूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है। और संकल्प मात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रह कर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।"

(सत्यार्थ० नवम समु०)

(३) "मुक्त जीव स्थूल शरीर छोड़कर सङ्कल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं। क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते।" (सत्यार्थ० नवमसमु०)

(४) "यह सूक्ष्म शरीर जन्ममरणादि में भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशों से बना है, दूसरा स्वाभाविक, जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

(५) "(प्रश्न) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता।

(उत्तर) (दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता भया उसमें रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियाँ प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं।" (ऋ० भू० १८६ पृ०)

(६) "यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्य नेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

उपर्युक्त महर्षि के ग्रन्थों के उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि मुक्ति में जीव के साथ प्रकृति से बनी कोई वस्तु नहीं जाती। यह जन्म-जन्मान्तरों में जीव के साथ जाने वाला (भौतिक) सूक्ष्म-शरीर भी जीव के साथ मुक्ति में नही रहता। मुक्ति में जीव के स्वाभाविक गुण ही रहते हैं। सतोगुणादि का आश्रय, प्रकृति का विकार तथा सूक्ष्म-शरीर का एक घटक मन भी जीव के साथ मुक्ति तक ही रहता है, मुक्ति में नहीं।

बुद्ध्यादि मन की वृत्तियाँ हैं—

बुद्ध्यादि वृत्तियों के विषय में प्रायः सन्देह ही रहता है कि ये (बुद्धि, चित्त, मन तथा अहङ्कार) भिन्न २ हैं, या अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं? महर्षि-दयानन्द के लेख से यही स्पष्ट होता है कि ये सब अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही हैं। इस तथ्य की पुष्टि निम्न विचारों से होती है—

(१) योगदर्शन के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्रार्थ में महर्षि ने चित्त का अर्थ मन ही किया है। और शिवसंकल्प-मन्त्रों की व्याख्या में स्मरणात्मक वृत्ति मन को बताई है।

(२) बुद्धि की निश्चयात्मक वृत्ति मानी गई है। महर्षि ने यजु० ३४।५ मन्त्र की व्याख्या में मन की निश्चयात्मक वृत्ति मानी है। अतः सांख्य में जो बुद्धि का लक्षण किया है, वह मन की वृत्ति है।

(३) शिव-संकल्प मन्त्रों के अर्थ में (वेद-भाष्य के भावार्थ में) अन्तःकरण की ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार चार वृत्तियाँ मानी हैं।

(४) सत्यार्थ प्रकाश (७ वें समु०) में—

'मनः=निश्चय, स्मरण, और अहङ्कार करना।"

यहाँ 'मन' शब्द के निश्चयादि तीनों अर्थ किए हैं।

(५) महर्षि ने ऋ० भू० में 'दशाङ्गुल' शब्द की हृदय-परक व्याख्या में हृदय में ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार को माना है। और इन्हें अन्तःकरण माना है। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि ये सब मन की विभिन्न वृत्तियाँ ही हैं, और इनका स्थान हृदय है।

(६) सूक्ष्म शरीर जीव के साथ रहता है, और उसके मन व बुद्धि दोनों घटक माने हैं। इससे भी बुद्धि का स्थान भी मन के साथ ही माना गया है।

(७) मन को इन्द्रिय माना गया है, बुद्धि आदि को नहीं। इन्द्र= जीवात्मा का लिङ्ग मन ही है। ज्ञान प्रक्रिया में भी इन्द्रिय-मन तथा आत्मा का संयोग माना गया है। यदि बुद्धि मन से भिन्न होती, तो ज्ञानप्रक्रिया में उसको अवश्य गिनाया जाता।

(८) महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण ग्रन्थ के आश्रय से मन की जो परिभाषा दी है, उसमें बुद्धिवृत्ति को मन ही माना है और यह माना है कि मन के अनेक अर्थ हैं—

'कामः संकल्पो......धीर्भीरित्येत् सर्वं मन एव।'

(शतपथ० का० १४ अ० ४)

इस प्रमाण में धीः—बुद्धिवृत्ति को मन ही माना है।

इत्यादि महर्षि के वचनों से स्पष्ट है कि मनन, स्मरण, निश्चय तथा अहङ्कारादि मन (अन्तःकरण) की ही वृत्तियाँ हैं, भिन्न नहीं। महर्षि दयानन्द ने भी यह निर्णय शास्त्रों के आधार पर ही किया है। उदाहरण स्वरूप न्याय-दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—

'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः। मनोऽत्राभिप्रेतम्'

अर्थात् ज्ञान करने का साधन बुद्धिवृत्ति मन ही है। और यदि मन व बुद्धि पृथक् २ होते, तो मन तो युगपत् अनेक ज्ञानों के न होने का कारण है। किन्तु बुद्धि से ज्ञान हो जाने चाहिए। किन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि बुद्धिवृत्ति मन की ही एक वृत्ति है। उसे ही कहीं २ मन से पृथक् भी वैसे ही गिनाया गया है। जैसे मन को इन्द्रिय माना है और कहीं उसे इन्द्रियों के अन्तर्गत तथा कहीं पृथक् भी लिखा गया है। बुद्धिवृत्ति मन की ही वृत्ति है, इस पक्ष में शास्त्रों का एक यह भी प्रमाण है, कि सांख्य-

दर्शन में जिन धर्म-ज्ञानादि को बुद्धि का धर्म माना है, उन्हें ही योग-दर्शन में चित्त का धर्म माना गया है और महर्षि ने योगसूत्रों के भाष्य में सर्वत्र चित्त का अर्थ मन किया है।

मानस-रोग—

"अज्ञानी लोग वैद्यक शास्त्र या पदार्थविद्या के पढ़ने, सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं।' (सत्यार्थ० २ समु०)

आचरण कैसे करे ?

'सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्। (मनु०)

सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचार के आचरण करे।' (सत्यार्थ २ समु०)

ज्ञान कैसे होता है ?

'इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।' (सत्यार्थ ३ समु०)

मन द्रव्य है गुण नहीं ?

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।। (वैशे० १।१।५)

'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं।'

'जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहें, उसको द्रव्य कहते हैं। उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुण वाले हैं, तथा आकाश, काल, और दिशा ये तीन क्रिया रहित गुणवाले हैं। (सत्यार्थ ३ समु०)

बुद्धि क्या है—

महर्षि दयानन्द ने वैशे० १।१।६ सूत्र के प्रमाण से बुद्धि को गुणों में माना है। और बुद्धि का अर्थ बताते हुए लिखा है—'जिससे अच्छे बुरे का ज्ञान होता है, वह बुद्धि०।' (सत्यार्थ ३ समु०)

इससे पाठकों को सन्देह हो सकता है कि बुद्धि गुण है तो यह क्या साधन भी है ? इसका समाधान इस प्रकार हो जाता है कि 'बुद्धि' के दो

अर्थ हैं—ज्ञान तथा अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति। अतः प्रकरणानुसार बुद्धि का अर्थ समझना चाहिए।

मन की जीत सुख का साधन—

'सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक क्रूर दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा, मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे'। (सत्यार्थ० ४ समु०)

जितेन्द्रिय राजा ही सुशासक होता है—

"जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ मनु० ॥

जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस) को जीते विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता।" (सत्यार्थ० ६ समु०)

परमात्मा के सुख की अनुभूति अन्तःकरण से होती है—

'समाधिनिर्धतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते।'

यह उपनिषद् का वचन है। जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गए हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है' (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

अन्तःकरण जीवात्मा के आधीन है—

'जिसके (आत्मा के) आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हो, जो स्वतन्त्र न हो तो उसका पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता।' (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

मन बहिर्मुख कैसे होता है—

"जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे या बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है।" (सत्यार्थ० नवम समु०)

मनुष्यों का मुख्य कर्त्तव्य—

(क) "मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित्त को

हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे।"

(ख) "इसलिए पाञ्च कर्म, पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार विहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।" (सत्यार्थ० दशम समु०)

(ग) "बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ॥

जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें।" (सत्यार्थ० दशम समु०)

परिपक्व अन्तःकरण से परमेश्वर को प्राप्त किया जाता है—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते ॥ (ऋ० ९। ८३। १)

"उस आप का जो व्यापक पवित्र स्वरूप है, उसको ब्रह्मचर्य, सत्य-भाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्संगादि तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरण युक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं, वे ही इस तप का आचरण करते हुए उस तेरे शुद्ध स्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं।"

(सत्यार्थ० एकादश समु०)

इस महर्षि के लेख में निम्न बातों का विशेष उल्लेख है—

(१) तप किसे कहते हैं ? तप का सच्चा स्वरूप क्या है ?

(२) उपर्युक्त तप के विना अन्तःकरण परिपक्व नहीं होता।

(३) परिपक्व अन्तःकरण होने पर ही ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान तथा ईश्वर की प्राप्ति होती है।

मन साकार पदार्थों में कभी स्थिर नहीं हो सकता—

'साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है। और निराकार अनन्त परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है, तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चञ्चल भी नहीं रहता किन्तु उसी के गुण, कर्म, स्वभाव का विचार करता-करता आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है। और जो साकार में स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता। क्योंकि जगत् में मनुष्य स्त्री, पुरुष, धन'

मित्रादि साकार में फंसा रहता है, परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता, जब तक निराकार में न लगावे।" (सत्यार्थ० एकादश समु०)

कर्म-फल भोक्ता जीव है, अन्तःकरण नहीं—

"मन से हर्ष शोक, दुःख-सुख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी, दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प, विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है। जैसा तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय अन्तःकरण और प्राण रूप साधनों से अच्छे बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है।" (सत्यार्थ नवम समु०)

मनादि के साक्षात्कार का उपाय—

'नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे, जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।' (सत्यार्थ० नवम समु०)

मानस-कर्मों का फल मन से ही भोगा जाता है—

(क) मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम्॥ मनु०॥

यह भी निश्चय जानें कि यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है, उसको मन, वाणी से किए को वाणी और शरीर से किए को शरीर से अर्थात् सुख दुःख को भोगता है।"

(ख) मानसैरन्त्यजातिताम्॥ मनु०॥

"मन से किए दुष्ट कर्मों से चाण्डालादि का शरीर मिलता है।"
(सत्यार्थ० नवम समु०)

मन का संयम धर्म है—

धर्म के दश लक्षणों की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं—

(क) "(दमः) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना धर्म है।" (सत्यार्थ० पञ्चम समु०)

(ख) "मन का बल और शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है।" (ऋ० भू० ११२ पृ०) अन्तःकरण परम सूक्ष्म है—

अन्तःकरण परम सूक्ष्म है—

महर्षि ने ऋ० भू० के सृष्टिविद्या विषय में 'त्रिसप्त समिधः कृताः' (यजु०) की व्याख्या में लिखा है—

'प्रकृतिर्महत् बुद्ध्याद्यन्तःकरणं जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्।' (ऋ० भू० १२८ पृ०)

अर्थात् इस ब्रह्माण्ड की २१ समिधाओं में एक समिधा है—प्रकृति, महत्तत्त्व, बुद्ध्याद्यन्तःकरण तथा जीव। इन सबको परम सूक्ष्म होने से एक समिधा कहा गया है।

मन का योग बाह्य तथा आभ्यन्तर क्रियाओं के साथ सदा रहता है—

"मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है।" (ऋ० भू० ४६ पृ०)

मन की शान्ति के बिना पठनादि निरर्थक है—

"जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना भी पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।" (ऋ० भू० १७९ पृ०)

मन देव और राजा है—

'इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रिय भी देव कहाते हैं। उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं।' (ऋ० भू० २९० पृ०)

मन का साक्षी ईश्वर है—

"(मनीषी) (परमेश्वर) सब के मन का साक्षी है।"

(ऋ० भू० ३०३ पृ०)

मन के जीतने से इन्द्रियजय—

"ग्यारहवां इन्द्रिय मन है, वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं।" (संस्कारविधि वेदारम्भ, ८६ पृ०)

ज्ञान-प्रक्रिया—

"इन्द्रियों के साथ मन का, मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है।" (सत्यार्थ तृतीय समु०)

मानसिक दुःख—

महर्षि त्रिविध दुःखों की व्याख्या में (आधिदैविक दुःख) लिखते हैं—

"आधिदैविक दुःख=जो मन और इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है।" (ऋ० भू० २ पृ०)

मन की गणना मूर्तिरहित देवों में की है

"पूर्वोक्त आठ वसुओं में अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पाञ्च मूर्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र, ये मूर्ति रहित देव हैं। तथा पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, बिजुली और विधियज्ञ, ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं।" (ऋ० भू० ७१ पृ०)

'मन' शब्द के विभिन्न अर्थ—

(१) 'मनो यज्ञेन कल्पताम्' (यजु० १८। २९)

इसकी व्याख्या में महर्षि ने (मनः) मननं ज्ञानम्' (ऋ० भू० १५६ पृ०) लिखकर 'मनः' का अर्थ 'ज्ञान' किया है।

(२) '(युक्तेन मनसा) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन'

(ऋ० भू० १५६ पृ०)

यहाँ महर्षि ने 'मनः' का अर्थ अन्तःकरण किया है।

(३) "(सुमना) पवित्रान्तःकरणयुक्त प्रसन्नचित्त।"

(संस्कारविधि विवाह०)

(४) '(मनसा) अन्तःकरण से।" (संस्कारविधि गृहाश्रम०)

मन इन्द्रिय है—

इन्द्रिय शब्द से प्रायः बाह्येन्द्रियों का ही ग्रहण होता है। किन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्०) अर्थात् इन्द्र जीवात्मा को कहते हैं, उसका लिङ्ग=ज्ञापक चिह्न जैसे बाह्येन्द्रियाँ हैं, वैसे अन्तःकरण भी है। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक न्याय से ये जीव के ही लिङ्ग हैं। प्राचीन शास्त्रों तथा वेदों में 'इन्द्रिय' शब्द मन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है—

(१) "मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधातु०" इसका अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं—'इन्द्रियम्=श्रोत्रादिकं मनश्च' (ऋ० भू० १४९ पृ०) अर्थात् इन्द्रिय शब्द से श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा मन का भी ग्रहण है।

(२) (इन्द्रियश्च)=मन आदीनि वाग्भिन्नानि षड् ज्ञानेन्द्रियाणि" (ऋ० भू० १०२ पृ०) अर्थात् इन्द्रिय शब्द से मन तथा बाह्य इन्द्रियों का ग्रहण किया है।

(३) '(इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण।' (संस्कारविधि गृहाश्रम)

बुद्धि आत्मा से भिन्न—

"बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना 'अस्मिता' क्लेश है।

(सत्यार्थ० नवम समु०)

ज्ञान का साधन बुद्धिवृत्ति आत्मा से भिन्न है। जो इन्हें एक समझते हैं, वे अस्मिता क्लेशयुक्त होने से अविद्या ग्रस्त हैं। और जहाँ बुद्धि शब्द ज्ञान का पर्यायवाची आया है, वह आत्मा का गुण है। और इसलिए बुद्धि का बढ़ना ज्ञान का बढ़ना ही है। क्योंकि जो बुद्धिवृत्ति अन्तःकरण है उसकी वृद्धि क्या हो सकती है? अथवा साधनों का समुचित विकास ही वृद्धि हो सकता है।

हृदय शब्द का मन के अर्थ में प्रयोग—

(१) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि उपनिषद् के स्थलों में हृदय शब्द मन के अर्थ में प्रयुक्त है।

(२) 'समाना हृदयानि वः' (ऋ०) इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि ने 'हृदयानि=मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि' लिखकर हृदय शब्द का 'मन' अर्थ माना है।

(३) 'हृदयम्=अन्तःकरण और आत्मा को' (संस्कारविधि विवाह०)

इत्यादि स्थलों में महर्षि ने हृदय शब्द का अर्थ, मन, अन्तःकरण या आत्मा किया है।

चित्त के नौ विक्षेप, जिनसे चित्त अशान्त हो जाता है—

महर्षि दयानन्द ने योगदर्शन के अनुसार चित्त के नौ विक्षेप (उपासना योग के शत्रु) मानते हुए, उनकी निम्न प्रकार से व्याख्या की है—

(१) व्याधि=धातुओं की विषमता से ज्वरादि पीड़ा का होना।

(२) स्त्यान=सत्यकर्मों में अप्रीति।

(३) संशय=जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे उसका यथावत् ज्ञान न होना।

(४) प्रमाद=समाधि साधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना।

(५) आलस्य=मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना।

(६) अविरति=विषय सेवा में तृष्णा का होना।

(७) भ्रान्तिदर्शन=उल्टे ज्ञान का होना। जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर भाव करके पूजा करना।

(८) अलब्धभूमिकत्व=समाधि की प्राप्ति न होना।

(९) अनवस्थितत्व=समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। (ऋ० भू० १७० पृ०)

मन में अविद्यादि क्लेश तथा उनकी वासनाएँ रहती हैं, आत्मा में नहीं—

इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

"अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनुगुणवासना आशयाः, ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते।"

अर्थात् जैसे योद्धा लोगों का जय या पराजय उनके स्वामी राजा का जय या पराजय कहलाता है, वैसे ही अविद्यादि क्लेश, कुशल अकुशल कर्म, उनका फल तथा तदनुकूल वासनाएँ मन में रहती हैं, किन्तु भोक्ता पुरुष में कहलाती हैं, क्योंकि वह उनके फलों का भोक्ता है।

(ऋ० भू० १६७ पृ०)

मनुस्मृति में मनोविज्ञान

मनुस्मृति में मन तथा मन से सम्बद्ध निम्न विषयों का वर्णन मिलता है—

(१) मन की उत्पत्ति।

(२) मानस-यज्ञ सर्वोत्तम है।

(३) मन का संयम धर्म है।

(४) विद्याप्राप्ति में मनः-संयम की आवश्यकता ।
(५) मन इन्द्रिय है ।
(६) मनः-संयम के उपाय ।
(७) मानसिक कर्म और उनका फल ।
(८) मानस-कर्मों के फल का भोग ।
(९) अजितेन्द्रिय को विद्या का अधिकार नहीं ।
(१०) गुरु विद्यार्थी को सर्वप्रथम क्या सिखाए ?
(११) मन की प्रवृत्ति को कैसे जानें ?
(१२) पाप से मुक्ति का उपाय ।
(१३) गुणप्रधान मन के भिन्न-भिन्न लक्षण ।

मन की उत्पत्ति का वर्णन—

मनुस्मृति में सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में मन की उत्पत्ति के विषय में दो स्थानों पर जो वर्णन मिलता है, उससे पाठक बहुत ही उलझन में पड़ जाता है कि अन्य शास्त्रों में मन की उत्पत्ति अहङ्कार से मानी है, किन्तु यहाँ उससे विपरीत बातें पढ़ने में आती हैं। परन्तु पूर्वापर का विचार करने पर इस समस्या का समाधान अवश्य मिल जाता है। यथार्थ में एक शब्द का जब भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग दिखाई देता है, तब शब्द-साम्य से उलझन विषम हो जाती है। जैसे सांख्यदर्शन के १। ७२ सूत्र में तो कहा है कि—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ।।

अर्थात् प्रकृति का जो सर्वप्रथम कार्य है, उसे महत्तत्व कहते हैं, और वह ही मन कहलाता है। किन्तु दूसरे स्थान पर १। ६१ सूत्र में प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार और अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं, दश इन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन की उत्पत्ति मानी है। यहाँ एक स्थान पर तो प्रकृति के प्रथम कार्य को मन माना है और दूसरे स्थान पर अहङ्कार का कार्य मन माना है। इससे सन्देह अवश्य होता है। किन्तु मनोविज्ञान प्रकरण में इन्द्रियों के अध्यक्ष मन की अपेक्षा है, महत्तत्व की नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर मनुस्मृति के श्लोकों की संगति सम्यक् लग जाती है।

मनुस्मृति के श्लोकों की संगति—

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ।।

अर्थात् स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपनी प्रकृति से सत् एवं असत् रूप मन (महत्तत्त्व) को, और मन से सामर्थ्ययुक्त अहङ्कार को उत्पन्न किया।

यहाँ पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि श्लोक में 'आत्मा' से मन=महत्तत्त्व की उत्पत्ति कही है। इससे नवीन वेदान्तियों के मत की पुष्टि प्रतीत होती है। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि आत्मा शब्द केवल चेतन के लिए ही नहीं आता। निरुक्त के 'आत्मा=अततेर्वा स्याद् आप्तेर्वा' प्रमाण के अनुसार जो जिस में व्यापक होता है, वह उस व्याप्य की आत्मा होता है। क्योंकि प्रकृति अपने सब कार्यों में व्यापक है, अत उसे 'आत्मा' शब्द से यहाँ कहा गया है। अथवा 'स्व-स्वामित्व' सम्बन्ध से 'आत्मा' शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है। महर्षि दयानन्द ने ऋ० भू० में उपर्युक्त 'आत्मा' शब्द की व्याख्या की है।

और मन=महत्तत्त्व को 'सदसदात्मक' क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि मनु ने प्रकृति को भी—

'यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्'। (मनु० १।११)

'सदसदात्मकम्' कहा है। सत् का अर्थ है, जो कारणरूप में सदा रहे और असत् का अर्थ है, जो जगत् के कार्यरूप होने पर असद् रूप में रहती है। अथवा जो कारण रूप में असद्=अव्यक्त रूप में रहती है और कार्य रूप में सद्=व्यक्तरूप में रहती है, अतः प्रकृति को सदसदात्मक' कहा गया है। इसी प्रकार इस श्लोक में मन (महत्तत्त्व) को 'सदसदात्मक' कहा है। जो टीकाकार इस शब्द का संकल्प-विकल्पात्मक अर्थ करके मन (इन्द्रिय) अर्थ करते हैं, उसकी संगति अन्य शास्त्रों के प्रतिकूल होने से सत्य नहीं है। और मनुस्मृति के दूसरे श्लोकों से भी विरुद्ध है। मनुस्मृति के इसी अध्याय में आगे लिखा है—

(क) तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥ (मनु० १।७४)

अर्थात् ब्रह्मा उस सृष्टि-प्रलय के अहोरात्र के अन्त में सोकर जागता है और जागकर सदसदात्मक मन की रचना करता है। ब्रह्मा का सृष्टि रचना करना जागना तथा प्रलय करना ही सोना है। यहाँ भी मन शब्द से 'महत्तत्त्व' ही अर्थ लेना ठीक है। क्योंकि यह ही प्रकृति का प्रथम विकार है। इसके आगे कहा है—

(ख) मनःसृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः॥ (मनु० १।७५)

अर्थात् ब्रह्मा सृष्टि-रचना की इच्छा से प्रकृति से मनः सृष्टि=महत्तत्व की रचना करता है, जिससे परमाणुओं के संघातरूप होने से आकाश पैदा होता है, जिसका शब्द गुण है।

इस श्लोक के अर्थ में भी टीकाकारों को भ्रान्ति ही हुई है। क्योंकि प्रथम तो इन्द्रियरूप मन प्रकृति का प्रथम विकार ही नहीं है और श्लोक में मन को पृथक् करके सन्देह पैदा होता है कि अचेतन मन कैसे सृष्टि-रचना कर सकता है? उसमें 'सिसृक्षा' सृष्टि रचने की इच्छा कैसे हो सकती है। और श्लोक में 'विकुरुते' क्रिया भी विकारभाव को ही बता रही है। अतः यहाँ मन शब्द से महत्तत्त्व का ही अर्थ लेना चाहिए। इसी मन (महत्तत्त्व) को प्रलय में अपने कारण में लीन होने के कारण शक्तिहीन कहा गया है—

(ग) तस्मिन् स्वपिति सुस्थे तु······मनश्च ग्लानिमृच्छति॥
(मनु० १।५३)

अर्थात् ब्रह्मा के सोने पर (प्रलय काल में) प्रकृति के विकार अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं, और मन=महत्तत्त्व भी ग्लानि=क्षीण (शक्तिहीन) हो जाता है।

(घ) महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च॥
(मनु० १।१५)

इस का अर्थ टीकाकार इस प्रकार करते हैं—

'फिर क्रम से महत्तत्व और सत्त्व, रस् तथा तजस् तीनों गुणों वाली, विषयों को ग्रहण करने वाली पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न किया।'

इस अर्थ में पूर्व श्लोक के अर्थ को ध्यान में रख संगति ठीक लगती है। क्योंकि मन तथा अहङ्कार की उत्पत्ति प्रथम श्लोक में कही है। और इस श्लोक में महत्तत्त्व तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति कही है। क्रम तो यह होना चाहिए—प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व, उससे अहङ्कार और अहङ्कार से मन तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होनी चाहिए। अतः इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—

"ब्रह्मा ने महान् आत्मा (व्यापक होने से) महत्तत्त्व को, त्रिगुणयुक्त

पञ्चतन्मात्राओं को (सूक्ष्म भूतों को) तथा विषयों के ग्रहण करने वाली इन्द्रियों को क्रमशः उत्पन्न किया।"

इस श्लोक में यद्यपि अन्तःकरणरूप मन की उत्पत्ति का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है, किन्तु इन्द्रियों की उत्पत्ति का किया है। इन्द्रियाँ कौन कौन सी हैं, इसका वर्णन मनु के शब्दों में ही पढ़िए—

'एकादशेन्द्रियाण्याहुः' (मनु० २। ८९)

'एकादशं मनो ज्ञेयम्' (मनु० २। ९२)

अर्थात् इन्द्रियाँ ग्यारह होती हैं। उनमें मन भी एक इन्द्रिय है। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति से मन की उत्पत्ति का भी वर्णन मनु ने किया है। जिससे स्पष्ट है कि मन प्रकृति का ही विकार है।

मानस-यज्ञ सर्वोत्तम है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ (मनु०। २। ८५)

अर्थात् अग्निहोत्रादि विधियज्ञ से जपयज्ञ दशगुणा श्रेष्ठ है, जपयज्ञ से उपांशुयज्ञ सौगुणा श्रेष्ठ है, और उपांशुयज्ञ से मानस-यज्ञ हजार गुणा श्रेष्ठ है।

इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर का ध्यान तथा उसके नाम का जप बाह्येन्द्रियों को रोककर मन से ही करना सर्वोत्तम माना गया है। सन्ध्यादि के मन्त्रों का उच्चारण करके ईश्वरोपासना केवल सिखाने का ही एक उपाय है। जो लोग ईश्वर के नाम पर लाउडस्पीकर लगाकर सारी रात जोर-जोर से गला खोलने का अभ्यास करते रहते हैं, न स्वयं सोते और न दूसरों को ही सोने देते। उन्हें मनुस्मृति के विधान का पुनरवलोकन करके 'मानसजप' की ओर ध्यान देना चाहिए।

मन का संयम धर्म है—

धृतिःक्षमा दमोऽस्तेयम्०। (मनु० ६। ९२)

इस श्लोक में 'दमः=मन का संयम करना' धर्म माना है। इसके संयम से आभ्यन्तरिक शुद्धि तथा बाह्येन्द्रियों पर संयम स्वतः ही हो जाता है।

विद्याप्राप्ति में मन-संयम की आवश्यकता—

(क) शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद् वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥
(मनु० २।१९२)

अर्थात् गुरु के समक्ष विद्यार्थी शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय तथा मन को वश में करके अञ्जलि बान्धे गुरु के बताए संकेत के प्रति दत्तचित्त रहे।

(ख) सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धचर्थमात्मनः॥ (मनु० २।१७५)

अर्थात् विद्यार्थी एकादश इन्द्रियों के समूह (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय तथा ११वाँ मन) को वश में करके अपने विद्या तप के वृद्धि के लिए नियमों का पालन करे।

मन इन्द्रिय है—

(क) एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः। (मनु० २।८९)

अर्थात् प्राचीन मनीषियों ने (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ तथा ११वाँ मन) ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं।

(ख) एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥
(मनु० २।९२)

अर्थात् मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है। इसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से होने के कारण मन उभयेन्द्रिय कहलाता है। और मन के जीतने पर अन्य दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।

मनादि इन्द्रियों के संयम का फल—

(१) इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥ (मनु० २।९३)

अर्थात् मनादि इन्द्रियों के वश में न करने से निस्सन्देह जीवात्मा पाप को प्राप्त करता है, और उन्हें वश में करने से मोक्षादि पुरुषार्थों की सिद्धि कर लेता है।

(२) वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥ (मनु० २।९७)

अर्थात् मनादि के संयम न करने से अजितेन्द्रिय पुरुष के वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सफल नहीं होते।

(३) इन्द्रियाणां च सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ (मनु० २। ९९)

अर्थात् जब मनादि इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं अथवा एक भी इन्द्रिय असंयत हो जाती है, तो उस व्यक्ति का ज्ञान वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे मशक से पानी बह जाता है।

(४) वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥ (मनु० २। १००)

इसलिए ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ग्यारहवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।

मन की शुद्धि का उपाय—

(क) मनः सत्येन शुद्धयति ॥ (मनु० ५। १०९)

सत्याचरण से मन की शुद्धि होती है अर्थात् मन के राग, द्वेष, मोहादि मलों की शुद्धि सत्यज्ञान से मिथ्या ज्ञान के दूर होने पर होती है। और सत्याचरण से बुरी वासनाएँ भी दग्धबीज की तरह नष्टप्रायः हो जाती हैं।

(ख) दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ मनु० ॥

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट हो जाता है वैसे प्राणायाम के निग्रह से मन आदि इन्द्रियाँ दोषक्षीण होने से शुद्ध हो जाती हैं।

मन की शुद्धि का फल—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ (मनु० २।१६०)

जिसकी वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित हैं, वह वेद-ज्ञान के सिद्धान्त रूप फल को प्राप्त करता है।

मनःसंयम के उपाय—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।। ४ । २०४ ।।

यमों का पालन न कर के केवल नियमों का ही सेवन करने से पतित हो जाता है। अतः यमों का नित्य पालन करता रहे।

इसका भाव यह है कि नियमों का पालन तो बाह्य दिखाने के रूप में लोकैषणा वश भी किया जा सकता है। अतः नियमों की अपेक्षा यमों का पालन अपरिहार्य है। यम नियमों की व्याख्या योगदर्शन के प्रकरण में द्रष्टव्य है।

व्रतानि यमधर्मश्चि सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ।। मनु० २ । ३ ।।

अर्थात् व्रत, यम और धर्म सब संकल्प से उत्पन्न हैं। और संकल्प-विकल्प करना मन का धर्म हैं। शुभ कार्येच्छा को संकल्प कहते हैं। मन के शिवसंकल्प वाला होने से ही यमों का पालन हो सकता है। अतः इन का पालन प्रत्येक मनुष्य को अवश्य ही करना चाहिए।

मानसिक कर्म और उनका फल—

(क) शुभाशुभफलं कर्म मनो वाग्देहसम्भवम् ।। मनु० १२ । ३ ।।

अर्थः—मन, वाणी तथा शरीर से जो कर्म होता है, उसके शुभ तथा अशुभ फल होते हैं।

(ख) तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्त्तकम् ।। मनु० १२ । ४ ।।

अर्थात् मन, वाणी तथा शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा है। और शरीर में जो भी दश प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं, वे मन के सहाय से ही आत्मा करता है।

(ग) परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ।। मनु० १२।५ ।।

अर्थात् मन के दुष्कर्मों के तीन प्रमुख भाग हैं—

(१) दूसरों की वस्तु का ध्यान करना।

(२) मन से दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करना।

(३) नश्वर देहादि में मोह वश अभिमान करना अथवा देहादि को ही अपना समझकर नश्वर न मानना।

मानस कर्मों के फल का भोग—

(क) मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ॥ मनु० १२ । ८ ॥

जीवात्मा मन के द्वारा किए गए कर्मों का फल मन से ही भोगता है।

(ख) मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ (मनु० १२ । ९)

मानस दुष्कर्मों के कारण चाण्डालादि का जन्म लेना पड़ता है।

अजितेन्द्रिय को विद्या का अधिकार नहीं—

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ (मनु० २ । ११५)

अर्थात् विद्या का अधिकारी वह है जो शरीर वाणी तथा मन से पवित्र है, जो ब्रह्मचारी है और जो प्रमादी नहीं है। ऐसा विद्यार्थी सचमुच विद्या-कोष का रक्षक होता है।

गुरु विद्यार्थी को सर्वप्रथम क्या सिखाए ?

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ मनु० २ । ६९ ॥

अर्थात् गुरु शिष्य का उपनयन करके सर्वप्रथम बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शुद्धि सिखाये अर्थात् शरीर, वाणी तथा मन की पवित्रता कैसे होती है, यह सिखाये। और साथ ही सदाचार, हवन तथा सन्ध्योपासन की शिक्षा अवश्य करे।

मन की प्रवृत्ति को कैसे जानें ?

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ मनु० ८ । २६ ॥

अर्थात् आकृति, इशारे, गति, चेष्टा, बोलचाल तथा नेत्र व मुख के विकारों से मन के भीतर की बातों को जाना जाता है।

अतः गुरु शिष्य की मानसिक क्रियाओं का प्रथम भलीभांति अध्ययन करे और फिर शिष्य की उन क्रियाओं का परिष्कार करता हुआ सन्मार्ग-दर्शन करे। अतः मनोविज्ञान का शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पाप से मुक्ति का उपाय—

(१) यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तन्तेनाधर्मेण मुच्यते ।। मनु० ११ । २२६ ।।

अर्थात् पापी मनुष्य यदि पाप से मुक्ति चाहता है, तो मन से उस पाप की खूब भर्त्सना किया करे । जैसे-जैसे वह मन से दुष्कर्म की निन्दा करेगा । वैसे-वैसे पाप से छूटता चला जायेगा ।

(२) सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ।। मनु० ११२ । १८ ।।

अर्थात् जो सब प्राणियों को आत्मदृष्टि से देखता है, उसका मन पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता ।

गुणप्रधान मन के भिन्न-भिन्न लक्षण—

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम् ।। मनु० १२।३१ ।।

अर्थ—सात्त्विक मन के कर्म ये हैं—वेदों का स्वाध्याय, तप, शास्त्र-ज्ञान, शुद्धि, इन्द्रियसंयम धार्मिक कार्यों में रुचि और आत्मिक चिन्तन ।

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ।। मनु० १२ । ३२ ।।

अर्थ—राजसिक मन के कर्म ये हैं—प्रारम्भ में किसी कार्य के करने में रुचि होना, धैर्य का अभाव, असत्कार्यों में प्रवृत्ति और निरन्तर विषयों का सेवन करना ।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ।। मनु० १२।३३ ।।

अर्थ—तामस-मन के कर्म ये हैं—लोभाक्रुष्ट होना, अधिक सोना, धैर्य का अभाव, क्रूरता, नास्तिकता, सदाचार का पालन न करना, मांगने का स्वभाव और आलस्य ।

———

पाणिनि-शिक्षा में मनोविज्ञान

पाणिनीय वर्णोच्चारण-शिक्षा में शब्दोत्पत्ति-प्रकरण में लिखा है—

आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्नि-माहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्।

(पाणिनीय शिक्षा)

अर्थात् जीवात्मा बुद्धि=ज्ञान से अर्थों को सञ्चित=इकट्ठा करके कहने की इच्छा से मन को प्रेरित करता है, मन शरीरस्थ जठराग्नि को उत्तेजना देता है, वह अग्नि वायु को प्रेरित करता है, और वक्ष में घूमती हुई शब्द को उत्पन्न करती है।

इस स्थल पर शिक्षा में स्पष्ट यह स्वीकार किया है—

(१) आत्मा और मन भिन्न-भिन्न हैं। मन जीवात्मा का साधन है, जो उसकी प्रेरणा से ही कार्य करता है।

(२) मन आत्मा की प्रेरणा के विना किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं कर सकता।

(३) इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है, कि मन का स्थान आत्मा के समीप ही है, दूर नहीं। जैसा अन्य शास्त्रकारों ने मन को सूक्ष्मशरीर का एक घटक और हृदयस्थ माना है, वैसा ही शिक्षाकार का भी मत है। मन यदि आत्मा के समीप न माना जाए, तो शब्दोत्पत्ति की पूर्वोक्त प्रक्रिया सम्भव न हो सके। क्योंकि शिक्षा में स्पष्ट किया है कि वायु को प्रेरित मन करता है।

(४) मन जीवात्मा के आधीन है, वह आत्मा से भिन्न होकर स्वयं कुछ भी क्रिया नहीं कर सकता। अतः मन का शरीर से बाहर जाकर दूसरे शरीरों में प्रवेशादि की बातें कदापि सत्य नहीं हो सकतीं।

(५) शिक्षा के इस उद्धृत श्लोक में 'बुद्धि' शब्द ज्ञान का वाचक है। और ज्ञान आत्मा का गुण है। जैसा जीवात्मा में ज्ञान होता है, वैसी ही वह प्रेरणा मन को करता है। अन्य शास्त्रकारों ने जो बुद्धिवृति मानी है, वह अन्तःकरण मन की एक वृत्ति है। वह ज्ञान का साधन होने से ज्ञान से भिन्न है।

शब्दोत्पत्ति में मन को कारण मानते हुए वेद में कहा है—

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।

सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत् सरित्॥ यजु० ३४।११॥

अर्थ—"मनुष्य (सस्रोतसः) मन रूप समान स्रोत=प्रवाह वाली (पञ्च) ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ, जो (नद्यः) नदी के तुल्य प्रवाह रूप हैं, वे जिस (सरस्वतीम्) प्रशस्त विज्ञान वाली वाणी को (अपि) भी (यन्ति) प्राप्त करती हैं, वह (सरित्) नदी रूपी (सरस्वती) वाणी (देशे) अपने निवास स्थान में (पञ्चधा) पाञ्च ज्ञान इन्द्रियों के शब्दादि विषय के प्रतिपादन से पाञ्च प्रकार की (तु) तो निश्चित (अभवत्) होती है, इसे जानें ॥" (महर्षि दयानन्द)

इस मन्त्र में पाञ्च ज्ञानेन्द्रियों को नदी के तुल्य बताया है, और वे सस्रोतसः=मन रूप समान स्रोत=प्रवाह वाली हैं। तथा वे समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ सरस्वती=वाणी को प्राप्त करती हैं। इससे स्पष्ट है कि जो कुछ वाणी का व्यवहार है, उसका आधार पाञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का आधार मन है। मन के आश्रय से ही इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करती हैं, और जैसा ज्ञान होता है, वैसा ही वाणी का व्यवहार होता है। इसलिए कहा है—

"यन्मनसा ध्यायति, तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। जीव जिसका मन से ध्यान करता, उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता, उसी को प्राप्त होता है।" (सत्यार्थ० प्रथमसमु०)

इससे स्पष्ट है कि जीव क्रिया करने से पूर्व मन से ध्यान करता है, फिर ज्ञानेन्द्रियों की प्रवृत्ति तथा वाणी का व्यवहार करता है। अतः समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार मन है। शिक्षा का समस्त व्यवहार इसके विना कदापि सम्भव नहीं है। वाणी के व्यवहार में जो हम भिन्न-भिन्न अभीष्ट ध्वनियों का उच्चारण करते हैं, उनका कारण मन ही है। और यही बात प्रत्यक्ष-ज्ञान प्रक्रिया में न्यायदर्शन के भाष्य में कही है—

'आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेनेति० ।'

(वात्स्या० भाष्य)

अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग, मन और इन्द्रियों का संयोग तथा इन्द्रियों और विषयों का संयोग होता है। अतः स्पष्ट है कि मनादि जीवात्मा के साधन हैं, इनसे वह ज्ञान प्राप्त करता है। □ □

(पृष्ठ १६ का शेष)

सुषुम्ना कहते हैं। ऊपर की ओर यह सुषुम्ना-शीर्षक से मिली होती है और नीचे पीठ के मोहरे के पास स्नायुओं के एक समूह के रूप में समाप्त हो जाती है। इसकी लम्बाई लगभग अठारह इञ्च होती है।······बोधतन्तु सुषुम्णा में दोनों ओर से आते हैं और कर्मतन्तु दोनों ओर बाहर निकलते हैं।

इस प्रकार सुषुम्णा के दो बड़े काम हुए—एक तो यह कि यह अपनी बोध-स्नायुओं द्वारा शरीर के भिन्न २ भागों से भिन्न २ संवेदनाओं को इकट्ठा करके मस्तिष्क को पहुँचा देती है। दूसरा काम यह है कि जो आज्ञा मस्तिष्क देता है, उसे यह अपनी कर्म स्नायुओं द्वारा शरीर के भागों तक पहुँचाती है। जिससे शरीर में गतियाँ होती हैं। (पृ० ३०-३३ तक)

मन और शरीर का सम्बन्ध अवश्य है। जब मैं मेज पर पड़ी पुस्तक उठाने की इच्छा करता हूँ, तो मन में से यह इच्छा तुरन्त शरीर द्वारा प्रकट हो उठती है। जब मेरी उंगली पर कांटा लगता है, तो मुझे तुरन्त दर्द मालूम होता है। यह शरीर द्वारा मन में अनुभव पैदा हुआ।

उपविकारवाद—इसके अनुसार मन मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाला पदार्थ ही है। मस्तिष्क में विभिन्न क्षेत्र हैं, इन क्षेत्रों में नाडी-कोश पाए जाते हैं। जब इनसे नाडी-कोशों को उत्तेजना मिलती है, तो मानसिक प्रक्रियाएँ जन्म लेती हैं। अपने आप मानसिक प्रक्रियाएँ पैदा नहीं हो सकतीं। इनका अस्तित्व मस्तिष्क के क्षेत्रों की उत्तेजना पर निर्भर करता है। मानसिक प्रक्रियाएँ मस्तिष्क में होने वाली क्रियाओं का उत्पादन ही हैं। जिस प्रकार पत्थर के दो टुकड़ों की आपसी रगड़ से आग पैदा हो जाती है, उसी प्रकार मस्तिष्क में होने वाली क्रियाएँ मानसिक प्रक्रियाओं को जन्म देती हैं। इस तरह देखा जाए तो मन मस्तिष्क से पैदा होने वाला पदार्थ ही है।

उपविकारवाद की दलीलें—(१) कार्य-कारण का नियम कहता है कि संसार में जो कुछ भी होता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है यदि यह नियम उचित है, तो फिर मानसिक प्रक्रियाओं का कोई न कोई कारण जरूर होगा। मस्तिष्क के क्षेत्रों में जो नाडी-कोश है, उनकी उत्तेजना ही मानसिक व्यापारों का कारण है।

(२) यह देखा गया है कि मस्तिष्क में पाए जाने वाले बोध-केन्द्र तथा कर्म-केन्द्र यदि ठीक काम करते हैं, तो हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों से सब तरह के अनुभव ठीक तरह होते रहते हैं। यदि इनमें कुछ गड़बड़ी हो

जा जाए तो हमारी मानसिक प्रक्रियाएँ या तो बिल्कुल नहीं होतीं या अधूरी होती हैं।.........इससे साफ तौर पर पता चलता है कि मानसिक प्रक्रियाएँ मस्तिष्क की क्रियाओं पर आधारित हैं।

(३) यदि व्यक्ति किन्हीं नशीली चीजों का इस्तेमाल करले तो उनके प्रभाव से मस्तिष्क की क्रियाएँ ठीक तरह काम करना बन्द कर देती हैं। फिर मानसिक क्रियाओं के ठीक तरह होने में भी रुकावट पड़ने लगती है।.........ऐसी हालत में हम सोच विचार ठीक तरह नहीं कर पाते। इससे भी पता चलता है कि मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्क की क्रियाओं पर आश्रित हैं।

(४) यदि मस्तिष्क किसी प्रकार के रोग का शिकार हो जाए या चोट से इस में कोई खराबी पैदा हो जाए, तो मानसिक प्रक्रियाएँ भी असाधारण रूप में न हो पायेंगी।

उपविकारवाद में न्यूनताएँ—

(१) मस्तिष्क एक जड़ पदार्थ है, यह अचेतन है, परन्तु मानसिक प्रक्रियाएँ चेतन होती हैं। फिर यह कैसे हो सकता है कि अचेतन क्रियाओं से चेतन क्रियाओं का जन्म हो सके।

(२) एक वस्तु अपनी किस्म की दूसरी वस्तु को तो पैदा कर सकती है, अपने से भिन्न वस्तु को नहीं। मन चेतन तथा क्रियाशील है, मस्तिष्क अचेतन तथा जड़। फिर मानसिक प्रक्रियाएँ किस तरह मस्तिष्क की क्रियाओं का उत्पादन माना जा सकता है।

(३) हमारी सब तरह की क्रियाओं के पीछे कोई न कोई प्रयोजन जरूर होता है। यह प्रयोजन हमारे मन में होता है। इसी से हमारी क्रियाएँ होती हैं। जैसा कि मैक्डूगल ने भी कहा है। पशुओं की क्रियाओं में भी कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है। यदि हमारी मानसिक प्रक्रियाएँ जड़ तथा अचेतन मस्तिष्क की क्रियाओं की उत्पत्ति है, तो फिर हम मानव तथा पशु व्यवहार में पाए जाने वाले प्रयोजन की किस तरह व्याख्या कर सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता। (पृ० ५५)

(६) मन क्या है ? बहुत समय से इस बात पर काफी वाद-विवाद होता आया है कि मन का असली स्वरूप क्या है। इस सम्बन्ध में काफी

मत बने हैं, परन्तु ये सब मत मन के व्यावहारिक अभिव्यक्ति के निरीक्षण के आधार पर ही बने हैं।

कुछ विद्वानों ने सोचा कि मन में अनुभवों को ग्रहण करने की शक्ति तो है, पर ये शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की होंगी, क्योंकि जो अनुभव मन ग्रहण करता है वे भी स्वरूप से एक दूसरे से भिन्न ही हैं। किसी विषय को याद करना उसके बारे में कल्पना करने से बिल्कुल भिन्न है। ये दो ऐसे अनुभव हैं, जो स्वरूप से ही एक दूसरे से अलग हैं, परन्तु फिर भी मन एक ही है, जिसमें ये सुरक्षित हैं।

हमारे सामने बहुत सारी चीजें—मेज, कुर्सियाँ, चारपाई, किताबें पड़ी हैं। मेज में कितनी ही चीजें शामिल हैं,—उसकी टांगें, उसके ऊपर का तख्ता, बराबर के लकड़ी के टुकड़े, परन्तु फिर भी हम इसको एक ही नाम देते हैं—मेज। इसके विभिन्न हिस्सों से अलग 'मेज' नाम की कोई चीज नहीं है। इन सब हिस्सों की आपसी मिलावट को ही हम 'मेज' कहते हैं। यही बात कुर्सी, चारपाई, कलम आदि पर लागू होती है और "यही बात 'मन' के बारे में भी ठीक है।"

जैसा कि हम पहले (अध्याय) में कह आए हैं—मन कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसका प्रत्यक्ष रूप में अनुभव हो सके। हम इसको आँखों से देख नहीं सकते। इसीलिए कुछ लोगों ने मत बनाया है कि मन एक अभौतिक वस्तु है जो हमारे शरीर में विद्यमान है। **इसकी अपनी शक्तियाँ हैं—सोचना, कल्पना करना, स्मरण करना** इत्यादि। यह मत हमें बताता है कि मन क्या नहीं है, यह नहीं बताता कि मन क्या है।

विभिन्न प्रकार के अनुभवों को ग्रहण करने की योग्यताओं तथा शक्तियों को सामूहिक रूप में मन कहा जाता है। असल में मन एक सृजनात्मक शक्ति है। कल्पना, स्मृति, संकल्प, बुद्धि आदि शक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि ये व्यक्ति की क्रियाएँ करने के ढंग को बताती हैं, जिनको हम मन की शक्तियाँ कहते हैं।

बुद्धि द्वारा हम अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। स्मृति हमें पुराने अनुभवों की याद कराती है। कल्पनाशक्ति द्वारा हम नये-नये अनुभवों का विचार कर पाते हैं।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मन विभिन्न प्रकार की

योग्यताओं या प्रक्रियाओं का ही नाम है। इनसे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं।......इन अनुभवों या प्रक्रियाओं का समुच्चय ही मन है।

(पृ० ५२-५३)

(७) **बुद्धि का स्वरूप**—सब विद्वान् मानते हैं कि बुद्धि एक मानसिक शक्ति है। **स्टर्न** के अनुसार बुद्धि एक ऐसी योग्यता है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आप को परिस्थिति के अनुकूल बना पाता है।

'टरमन' के अनुसार अमूर्त चिन्तन की योग्यता ही बुद्धि है।

'थार्नडाइक' और **'थौम्सन'** जैसे विद्वान् बुद्धि को केवल एक ही योग्यता नहीं मानते। उनके विचार में बुद्धि अनेक प्रकार की योग्यताओं का, जो अपने आप स्वतन्त्र तौर पर काम करती हैं, एक भण्डार है।

वेल्स के अनुसार बुद्धि का ठीक अर्थ वह शक्ति है जो हमारे व्यवहार के अंशों को इस तरह पुनः संगठित करती है कि हम नई परिस्थितियों में ज्यादा अच्छी तरह काम कर सकें।

प्रो० वुडवर्थ ने बुद्धि का स्वरूप ठीक तरह समझाने के लिए बुद्धि और मनीषा में भेद बताया है। इन दोनों में बहुत गहरा सम्बन्ध होते हुए भी कुछ भेद है। मनीषा सोचने-समझने, याद करने, जानने तथा ज्ञान प्राप्त करने की एक शक्ति है। मनीषा हमें ज्ञान प्राप्त कराती है, परन्तु बुद्धि का काम इससे कहीं ज्यादा है। यह हमें समस्याओं के सुलझाने में मदद देती है।

स्पीयर मैन ने बुद्धि को सामान्य और विशिष्ट दो प्रकारों में बाँट दिया है।

इस तरह से बुद्धि के विषय में भिन्न-भिन्न राय हैं, परन्तु सभी विद्वान् ज्ञानात्मक पहलू पर ही जोर देते हैं। अतः बुद्धि एक मानसिक योग्यता है, जिसका प्रदर्शन व्यक्तियों के कार्य और योग्यता-प्राप्ति में पाया जाता है।

(८) **स्मृति क्या है ?** हमारी वह मानसिक शक्ति जिसके द्वारा हम अपने गत अनुभवों को यथार्थ रूप में जागृत कर पाते हैं, स्मृति कहलाती है। प्रो० विलियम जेम्स के अनुसार—'चेतना से एक बार हट जाने के बाद मन की पूर्व अवस्था के पुनः ज्ञान का नाम ही स्मृति है।'

(९) **मूल प्रवृतियाँ और आदत**—मूल प्रवृत्तियाँ जन्म-जात होती हैं

और आदतें अर्जित होती हैं। भोजनान्वेषण प्रवृत्ति, पलायन प्रवृत्ति आदि मूल प्रवृत्तियाँ हैं और सिगरेट पीना, शराब पीनादि आदतें हैं। मूल प्रवृत्तियों का वर्जन सम्भव नहीं किन्तु आदतें छोड़ी जा सकती हैं। मूल प्रवृत्तियों में संशोधन हो सकता है।

(१०) मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ—

ज्ञानात्मक अनुभव चेतना के स्वभाव को प्रकट करते हैं। ये अनुभव मनोवृत्तियाँ कहलाते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना की उपमा नदी से दी है। जैसे नदी का पानी लगातार बहता रहता है, वैसे ही चेतना में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव एक दूसरे के पश्चात् आते रहते हैं। कोई भी क्षण ऐसा नहीं होता जब हमारी चेतना अनुभवों से शून्य हो।

प्रत्येक मनोवृत्ति एक बार चेतना में आते ही फिर मानसिक क्षेत्र को नहीं छोड़ती, बल्कि अव्यक्त रूप में **चेतन** केन्द्र के समीप ही स्मृति के वेश में अपनी सत्ता बनाए रखती है। इस मानसिक अवस्था को **अवचेतना** कहते हैं। हमारे मानसिक सारे अनुभव एक समान नहीं होते। कुछ रुचिकर, उपयोगी तथा शुभ होते हैं और दूसरे कड़वे, अनुपयोगी तथा अशुभ होते हैं। इन दूसरे अनुभवों को मन निकालने का पूरा प्रयत्न करता है, किन्तु ये एक बार छाप लगाने वाले अनुभव कभी सर्वांश में नष्ट नहीं होते, किन्तु चेतना से दूर अपने असहाय रूप में एकत्रित होते रहते हैं। यह मानसिक दशा **अचेतना** होती है। चेतना का तीसरा गुण है—चयनात्मकता। चेतना की इस चयनात्मकता में विषय का प्रत्येक भाग क्रमशः चेतना-केन्द्र में प्रधान होता जाता है। चेतना का चौथा गुण है—उसकी **एकता**। हमारी चेतना में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव आते रहते हैं, यद्यपि ये अनुभव संख्या में अधिक और स्वभाव से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, तो भी ये चेतनालड़ी में बंधे रहते हैं। चेतना की एकता व्यक्तित्व का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है।

इस तरह देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चेतना की मात्राएँ हैं—चेतना, अवचेतना, अचेतना। मन की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। इनमें हमारे मानसिक अनुभव विद्यमान रहते हैं। (पृ० ४४-५०)

(११) प्रत्यक्षीकरण और संवेदना—

वातावरण से पैदा होने वाली उत्तेजना या घटनाओं का तुरन्त ज्ञान प्राप्त करने की मानसिक प्रक्रिया का नाम ही प्रत्यक्षीकरण है। हमारा

वातावरण तरह-तरह की वस्तुओं तथा घटनाओं से परिपूर्ण है। ये वस्तुएँ और घटनाएँ हमारी भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियों को समय-समय पर उत्तेजित करती रहती हैं। जब कोई उत्तेजना हमारी किसी ज्ञानेन्द्रिय पर क्रिया करती है, तो उसका प्रभाव हमारी ज्ञानेन्द्रिय पर कुछ समय के लिए चलता रहता है। इस तरह **संवेदनाओं** का जन्म होता है। जब मन इन संवेदनाओं के स्वरूप को जान लेता है, तो फिर ये मानसिक अनुभव का रूप धारण कर लेतो हैं इन संवेदनाओं का जिस चीज या घटना के साथ सम्बन्ध होता है, मन को उस चीज या घटना का पूरी तरह ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान को प्रत्यक्षीकरण कहते हैं।

संवेदना एक सरल मानसिक प्रक्रिया है, प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। **रैक्स** तथा **नाइट** ने कहा हैं कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में हम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चेतन या अचेतन दशा में कुछ ऐसे गुण भी अपनी तरफ से जोड़ देते हैं, जो पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं किन्तु उस समय नहीं दीखते, यह प्रत्यक्षीकरण में मन का अपना हिस्सा है।

संवेदना में धुन्धली-सी चेतना ही होती है, मन को उत्तेजना के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्षीकरण में स्पष्ट ज्ञान होता है। (पृ० ८५-८७ तक)

(१२) **ध्यान**—मन को एकाग्र करके किसी वस्तु की ओर लगाने की क्रिया को ध्यान कहते हैं। इसीलिए **जेम्सवार्ड** ने ध्यान को 'मानसिक क्रिया' कहा है। (पृ० ९८)

कल्पना—व्यक्ति की वह मानसिक शक्ति, जिसके द्वारा वह अपने पूर्व अनुभवों को नये ढंग से रचता है, कल्पना कहलाती है। हम अपने पूर्व अनुभवों को दो तरह से पुनःस्मरण कर सकते हैं। उनके वास्तविक रूप में या उनके संयोजक तत्त्वों में वदलकर नये रूप में। पहली स्थिति को स्मृति तथा दूसरी को कल्पना कहते हैं। (पृ० १५५-१५६)

क्रिया—मुख्य रूप से क्रियाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है—

१ ऐच्छिक क्रिया २ अनैच्छिक क्रिया। ऐच्छिक क्रियाएँ प्रेरणा-संघर्ष के बाद निर्णीत संकल्प से की जाती हैं। और अनैच्छिक क्रियाएँ बिना संकल्प के होती हैं। मूलप्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ या सहजक्रियाएँ अनैच्छिक हैं। (पृ० १६९)

संवेग—संवेग व्यक्ति की वह भावात्मक मानसिक अवस्था है, जो किसी स्थिति, घटना या वस्तु के देखने, याद आने या सुनने से उत्तेजित हो जाए। संवेगात्मक अनुभव के समय व्यक्ति के मन में इतनी उथल-पुथल मच जाती है कि उसका सारा व्यवहार स्पष्ट रूप में अध्ययन किया जा सकता है। (पृ० १९०)

स्थायीभाव—जब कोई वस्तु किसी प्रकार के संवेग को बार-बार उत्तेजित करती है, तो वह उस संवेग से एक विशेष सम्बन्ध बना लेती है। जब वह सम्बन्ध स्थायी रूप ले लेता है, तो हम उसे स्थायीभाव कहते हैं। (पृ० २०५)

चिन्तन—प्रो० वुडवर्थ के अनुसार चिन्तन पूर्व निरीक्षित तथ्यों का पुनः स्मरण, तथ्यों का समूहीकरण, तथ्यों को सुलझाने में प्रयत्न और मूलविधि का प्रयोग, उद्देश्य अथवा प्रगतिशील क्रिया द्वारा नियन्त्रणादि क्रियाओं का सम्मिश्रण है (पृ० २११)

(१३) **मनोविज्ञान के मुख्य सम्प्रदाय**—

(१) **मनोविश्लेषणवाद**—इसके जन्मदाता प्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्रायड हैं। आप मनोविकृतियों के प्रथम चिकित्सक रहे। आपने मन सम्बन्धी खोजें और व्यावहारिक सिद्धान्त संसार के समक्ष रखे, जो बहुत ही लोकप्रिय बन गए हैं। आपने अपने सिद्धान्तों में जो महत्त्व काम-प्रवृत्ति को दिया है, वह बहुत ही अनोखा है। आपके अनुसार स्वप्नों तथा मानसिक विकारों का कारण काम-प्रवृत्ति है।

(२) **उद्देश्यवाद**—इसके जन्मदाता विलियम मैक्डूगल हैं। इनका मनोवैज्ञानिक क्षेत्र पर पर्याप्त प्रभाव है। इनके अनुसार प्राणियों के व्यवहार का आधार उद्देश्य है। प्रत्येक क्रिया में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य होता है। उद्देश्य ही प्राणी के व्यवहार का प्रेरक है। मैक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियां ही व्यक्ति के व्यवहार की मूल प्रेरक हैं। मूल प्रवृत्तियाँ तीन अवस्थाओं में प्रकट होती हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा इच्छात्मक।

(३) **व्यवहारवाद**—इसके जन्मदाता जे० बी० वाट्सन नामक विद्वान् हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान का असली विषय व्यक्ति का व्यवहार है। जो बाह्यगत रूप से अध्ययन किया जा सकता है। "मन का मनोविज्ञान

की परिभाषा में कोई स्थान नहीं"। वाट्सन का विचार है कि जब तक मनोविज्ञान का विषय मन रहेगा, उस समय तक यह एक विज्ञान का रूप धारण नहीं कर सकता। क्योंकि मन का बाह्यगतरूप अध्ययन करना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है। जब मन ही मनोविज्ञान का विषय नहीं हो सकता, तो अन्तःप्रेक्षण-विधि व्यवहारवाद के लिए निरर्थक है।

यह सम्प्रदाय वर्त्तमान काल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना अपने जन्म के तुरन्त पश्चात् रखता था। मन और व्यवहार एक ही व्यक्तित्व के दो महत्त्वपूर्ण भाग हैं।

(४) **गैस्टाल्ट मनोविज्ञान**—इसके जन्मदाता तीन जर्मन मनोवैज्ञानिक हैं। इनके अनुसार अनुभव को सम्पूर्ण रूप में प्राप्त करना एक मानसिक गुण है। यदि अनुभव को उसके भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित करके अध्ययन किया जाए तो उसकी अपनी विशेषता खो जाती है। इन मनोवैज्ञानिकों ने प्रत्यक्षीकरण और सूझविधि के जो सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में रक्खे हैं, वे आधुनिक खोजों से तालमेल खाते हैं। (पृ० २४२-२५४)

(१४) **मनोविज्ञान के अध्ययन के लाभ**—

मन तथा वातावरण के सम्पर्क से जो क्रियाएँ व्यक्ति करता है, वे मानसिक विकास पर बहुत प्रभाव डालती हैं। हमारा मन बीज के दाने के समान है। बीज के एक दाने को जमीन में बो दिया जाए तो कुछ समय बाद वह एक छोटे से अंकुर के रूप में प्रकट होता है। धूप, पानी, खादादि की सहायता से वह बड़ा होने लगता है। धीरे-धीरे उसका विकास होने लगता है। कुछ वर्षों के बाद वह एक पेड़ बन जाता है।……मन में बीज रूप में सब तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं, परन्तु उनका विकास तभी हो सकता है, जब उसके अनुकूल वातावरण हों' (पृ० २१)

शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानसिक जीवन का विकास है। ……मन सम्बन्धी ज्ञान सारी शिक्षाविधियों का आधार कहा गया है। ……विद्यार्थियों का मानसिक विकास, नैतिक उन्नति आदि अध्यापक के मानसिक ज्ञान पर निर्भर करते हैं।' (पृ० २२)

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बच्चे की उन सब मानसिक शक्तियों को, जो सुपुप्त अवस्था में उसके मन में विद्यमान हैं, व्यक्त या जागरित करना है, जिससे वह अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने में इनका सदुपयोग कर सके। (पृ० २५८)

मनोविज्ञान का उद्देश्य मानसिक प्रक्रियाओं तथा मानसिक शक्तियों के स्वरूप, उनकी अव्यक्ति के साधन, उनके विकसित होने का ज्ञान तथा उनकी जांच करने की विधियों का अध्ययन करना है। (पृ० २५८)

नवीन मनोविज्ञान की समीक्षा—

नवीन मनोविज्ञान तथा वैदिक मनोविज्ञान में निम्न समानताएँ हैं—

(१) शिक्षा में मनोविज्ञान की उपयोगिता अत्यधिक है। (२) मन में बीज के दाने की तरह प्रसुप्त शक्तियाँ या संस्कार विद्यमान रहते हैं। (३) मन एक अभौतिक तत्त्व है, जो शरीर के अन्दर है। सोचना, कल्पना करना, स्मरण करना, निश्चय करनादि मन के कार्य हैं। (४) मन प्रत्यक्ष नहीं है। (५) बुद्धि, स्मृति आदि मानसिक वृत्तियाँ हैं। (६) मन को समझने के लिए शारीरिक विज्ञान का जानना अत्यावश्यक है। (७) ज्ञानात्मक अनुभव मानसिक क्षेत्र को नहीं छोड़ते, प्रत्युत चेतना केन्द्र के समीप ही स्मृति के रूप में अंकित होते रहते हैं। (८) मन किसी भी प्रकार का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही कराता है।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी दोनों विज्ञानों में अनेक विषमताएं भी हैं। (१) नवीन विज्ञान में कोई भी विद्वान् मन का स्वरूप निर्धारण नहीं कर सका है। और मन की परिभाषा के विना समस्त मनोविज्ञान भ्रान्तिपूर्ण तथा अपूर्ण ही दीखता है। (२) प्राचीन दार्शनिक मन को अन्तःकरण मानते हैं, जीवात्मा की प्रेरणा से मन कार्य करता है, स्वतः नहीं। किन्तु नवीन मनोवैज्ञानिक जीवात्मा के विषय में बिल्कुल मौन धारण किए हुए हैं। और मन को करण न मान कर एक शक्ति मानते हैं। (३) प्राचीन दार्शनिक मन को जीवात्मा के साथ जन्म-जन्मातरों में साथ मानते हैं, किन्तु नवीन इस विषय में चुप हैं। (४) नवीन भोजन-प्रवृत्ति, जिज्ञासादि मूल प्रवृतियों को प्राकृतिक मानते हैं, जब कि प्राचीनों का एक मत से यह निश्चय है कि जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार मन में विद्यमान रहते हैं, और जीवात्मा इनके अनुसार ही क्रिया करता है। (५) नवीन विद्वान् चेतन-शक्ति जीवात्मा को न मान कर मानसिक क्रियाओं को स्वीकार कर रहे हैं, किन्तु अचेतन पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति कदापि सम्भव नहीं, है, अतः यह भ्रान्ति ही है। क्योंकि जड़ पदार्थों में यह विवेक कहाँ है कि मैंने यह देखा था और अब उसे ही देख रहा हूँ। अथवा पूर्वानुभूत पदार्थ को देख कर ही रसास्वादन की स्मृति होने लगे। इस सब एकरूपता का

कारण एक जीवात्मा ही है। (६) मन आत्मा के संयोग के विना और ज्ञानेन्द्रिय मन के संयोग के विना कार्य नहीं कर सकते। यही कारण है कि अनेक बार हम देखते हुए भी नहीं देख सकते, सुनते हुए भी नहीं सुन सकते। यही मन का लिङ्ग=ज्ञापक है। इस सर्वजन अनुभव में आने वाले मन के ज्ञापक लिङ्ग को जानते हुए भी न मानना क्या प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं है? अन्यथा बाह्य वस्तुओं तथा वातावरण के प्रभाववश एक समय में अनेक ज्ञान होने चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः नवीन वैज्ञानिकों के माने हुए संवेग तथा प्रत्यक्षीकरण के अन्तर को कैसे माना जा सकता है! प्रथम संवेग और फिर प्रत्यक्षीकरण यह ज्ञान की प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण है। मन के संयोग के विना कोई भी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती। (७) प्राचीन गुण या क्रिया के आश्रय को द्रव्य मानते हैं। उन्होंने मन को भी नौ द्रव्यों में एक द्रव्य माना है। उसके स्मृति आदि गुण माने हैं। किन्तु नवीन मानसिक क्रियाओं तथा शक्तियों को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके आधार-भूत मन को द्रव्य नहीं मानते अथवा उसके विषय में चुप हैं। क्या विना आश्रय के भी कोई शक्ति या क्रिया हो सकती है? (८) हमारी समस्त क्रियाओं के मूल में एक उद्देश्य परिलक्षित होता है। इस बात को सभी स्वीकार करते हैं। क्या विना इन्द्रियाँ, मन, शरीरादि के स्वामी जीवात्मा के एक उद्देश्य हो सकता है? और जीवात्मा बहिर्गमन करने पर इन्द्रियादि क्यों कार्य नहीं कर सकतीं? इस विषय का विना निर्धारण किए क्या नवीन मनोविज्ञान विना नींव के मकान के समान नहीं है? (९) नवीन वैज्ञानिकों ने जो विज्ञान की परिभाषा की है कि विज्ञान क्या? क्यों और कैसे? का उत्तर देता है। मन क्या है? इस बात को न बताकर क्या नवीन मनोविज्ञान विज्ञान कहा जा सकता है। (१०) मन या चेतना को जानना असम्भव है, यह नवीनों की महाभ्रान्ति है। प्राचीन मनोवैज्ञानिकों ने इस तथ्य का युक्ति व प्रमाण से निर्धारण किया हुआ है। नवीनों को इस विषय में उनकी शरण में जाकर अपनी भ्रान्ति दूर करनी चाहिए। (११) मन को ज्ञानेन्द्रियों से दूर बताना भी भ्रान्तिपूर्ण मान्यता है। क्योंकि मन के संयोग के बिना ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य ही नहीं कर सकतीं। नवीनों को इन्द्रियों के बाह्य गोलकों को ही इन्द्रिय मानने से यह भ्रान्ति हुई है। उन्हें प्राचीन दार्शनिकों के इन्द्रियोत्पत्ति प्रकरण को ध्यान से पढ़ना चाहिए। (१२) नवीनों ने शिक्षा में मनोविज्ञान का महत्त्व तो स्वीकार किया है, किन्तु मन के स्वरूप व उसके एकाग्र करने के साधनों से प्रायः वे अपरिचित ही हैं।

इसी कारण उन्हें सन्मार्ग से भ्रष्ट ही कहना चाहिए। उन्हें प्राचीन ऋषि-मुनियों के स्वानुभूत यम-नियमादि सत्य-उपायों का भी परीक्षण अवश्य करना चाहिए। (१३) प्रायः नवीनों की यह भ्रान्ति ही है कि जिन्होंने मन या चेतना के विषय में खोज की है, उनमें कदापि एकरूपता नहीं रही। हमने वेद-उपनिषद्, दर्शन, ब्राह्मण तथा स्मृति आदि प्राचीन आचार्यों के वचनों का इस मनोविज्ञान में संग्रह किया है, किन्तु उनमें सब की एकरूपता ही है। कहीं भी मनादि के विषय में मतभेद नहीं है। (१४) नवीन आचार्यों की यह भी भ्रान्ति ही है कि प्राचीन दार्शनिकों ने मनादि के सिद्धांतों की तो खोज की, किन्तु मनादि के व्यावहारिक पक्ष को नहीं रक्खा। इस मिथ्या-भ्रान्ति को दूर करने के लिए विद्वानों को दार्शनिकों के विचारों पर निष्पक्ष होकर विचार करना चाहिए। विशेषरूप में योगदर्शन को। जिसमें यम-नियमादि का एक सर्वांगपूर्ण तथा व्यावहारिक पक्ष हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। जिसका आश्रय प्राचीन शिक्षा-शास्त्री सदा से करते रहे हैं। और उनका आश्रय किए विना कदापि मनोविज्ञान का शिक्षा में उपयोग नहीं किया जा सकता।

मन और शरीर का घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि मन भी शरीराश्रय से ही कार्य करता है। प्रस्तुत नवीन मनोविज्ञान के मस्तिष्क, सुषुम्णादि के स्थलों को पढ़कर प्राचीन दर्शनकारों के सत्यविचारों की ही पुष्टि हो रही है; प्राचीन दर्शनकारों ने आत्मा के साथ मन का स्थान हृदय (छाती) में माना है। यहाँ आत्मा मन को प्रेरणा देता है और मन सुषुम्णा के दोनों ओर विद्यमान बोध-तन्तुओं को प्रेरित करता है, और वे मस्तिष्कादि स्थानों से होकर इन्द्रियों को प्रेरित करते हैं। विद्वान् इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें, तो इस विषय का बहुत ही स्पष्टीकरण हो सकता है।

हमने नवीन मनोवैज्ञानिकों के विचार मनादि के विषय में बहुत ही संक्षेप में दिये हैं। इनका संग्रह तथा पृष्ठसंख्या श्रीयुत बलवीरसिंह गौछ-वाल लिखित 'मनोविज्ञान' से किया गया है। कहीं-कहीं- अक्षरशः तथा कहीं-कहीं उनके भावों को ही यहाँ दिखाया गया है। क्योंकि समयाऽभाव तथा इस अंक में स्थानाऽभाव पद-पद पर रोक लगा रहा था। अतः श्री गौछवाल महोदय का धन्यवाद तो करना ही चाहिए, साथ ही उनका बहुत ही आभार भी मानता हूँ। क्योंकि उन्होंने बहुत ही परिश्रम से मनोविज्ञान-सम्बन्धी सामग्री को संकलित किया है। —**सम्पादक**

सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा में हो रही धांधली से सावधान !

आदरणीय आर्य बन्धुओ !

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का निर्माण आर्य-समाज की संपूर्ण प्रान्तीय एवं देशीय सभाओं, आर्यसमाज से सम्बन्धित अन्य संस्थाओं पर नियन्त्रण एवं आर्य समाज को वेद, महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज के सिद्धान्तों के अनुरूप चलाये रखने के लिये हुआ था। प्रारम्भ में जब सार्वदेशिक सभा के अधिकारी वेद के विद्वान्, आर्यसमाज तथा दयानन्द के अनन्य भक्त होते थे। तब सार्वदेशिक सभा निरन्तर अपने लक्ष्य एवं कार्यक्रम के अनुरूप कार्य करती रहती थी। परन्तु जब से सभा में सर्वथा वेद-ज्ञान से शून्य, अयोग्य, वर्तमान गन्दी राजनीति के राजनीतिक नेता, आर्थिक अपवित्रता से ग्रसित व्यापारी, असत्य को सत्य और सत्य को असत्य करने वाले वकील, ठेकेदार, जमीदार एवं पूंजीपति आदि अपनी तिकड़मों के द्वारा पदाधिकारी बनने लगे तब से बराबर हर समय कोई न कोई गड़बड़ी सभा में होती ही रहती है। जब बाड़ ही खेत को खाने लगे तो निगरानी करने वाले का क्या दोष ? जब सब आर्य समाजों की शिरोमणि सभा ही अपने कर्तव्य से च्युत होकर नित नई-नई अनुचित कार्यवाहियाँ करने लगे तो फिर सभा के पदाधिकारियों के विरुद्ध कोई आन्दोलनात्मक कदम उठाने के अतिरिक्त कौन-सा मार्ग हमारे पास शेष रह जाता है ?

हम निम्न हस्ताक्षरकर्त्ता आप सब आर्य विद्वानों, संन्यासियों, वानप्रस्थियों, आर्य समाज के पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं के समक्ष सभा के पदाधिकारियों के पिछले और वर्तमान अनुत्तरदायी कार्यवाहियों तथा जानबूझकर की गई गलतियों के निम्न कुछ नमूने प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है आप इन पर गंभीरता से विचार कर अपने विचारों से हमें अवगत करने का कष्ट करेंगे कि कौन सा ऐसा आन्दोलन, मार्ग या साधन खोजा जावे कि जिससे सदा-सदा के लिये आर्यसमाज की शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा शुद्ध होकर संपूर्ण आर्य समाजों को शुद्ध कर महर्षि दयानन्द के स्वप्नानुसार आर्यसमाजों का पुर्निनर्माण कर सकें। हम सभा के पदाधिकारियों के विरुद्ध कोई कठोर आन्दोलन उठायें उससे

पूर्व आपसे प्रार्थना है कि आपकी दृष्टि में कोई और मार्ग हो तो अवश्य लिखने का कष्ट करें।

१—कुछ वर्ष हुए सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मुख पत्र 'सार्वदेशिक साप्ताहिक' में पं० दीनबन्धु शास्त्री कलकत्ता वालों के महर्षि दयानन्द की अज्ञात जीवनी के सम्बन्ध में धारावाही लेख प्रकाशित हुए थे। तत्पश्चात् वह अज्ञात जीवनी पुस्तक के रूप में भी सभा के सामने प्रकाशित हुई थी। अजमेर के डा० भवानीलाल जी भारतीय सभा को लिखते-लिखते परेशान हो गये कि मेरा अज्ञात जीवनी को प्रामाणिक मानने वालों के साथ शास्त्रार्थ करवा दीजिये। परन्तु कोई सुनवाई नहीं हुई। यह सत्य है कि अज्ञात जीवनी वस्तुतः गप्पों का पिटारा है। जिसकी अधिकांश बातें असत्य एवं मनगढ़न्त हैं। फिर भी दोनों पक्षों को बैठाकर कोई निर्णय तो करना ही था। परन्तु सभा ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर, चुप्पी साधकर, उल्टे जीवन चरित्र को विकृत करने वालों को ही प्रोत्साहन दिया।

२—साप्ताहिक सत्संग, दैनिक एवं विशेष यज्ञों में एक रूपता लाने के लिए सभा ने कोई ठोस कार्य नहीं किया जो भी धर्माधिकारी बना अपनी मोनो-पोली चलाकर सर्वमान्य निर्णयों को अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिये पलटता रहा। यद्यपि धर्मार्य सभा के कुछ विद्वानों ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न कर यज्ञ-पद्धति एवं साप्ताहिक सत्संग से सम्बन्धित एक प्रामाणिक एवं सर्वमान्य पुस्तक भी प्रकाशित की। परन्तु अब एक दूसरे के विपरीत दो-दो पद्धतियों की पुस्तक सार्वदेशिक सभा से प्रकाशित हो रही है।

३—डा० विमला का शोध-ग्रन्थ—'सायण तथा दयानन्द के वेद-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन' को प्रकाशित कर दयानन्द एवं उनके वेद-भाष्य के साथ जो विश्वासघात किया वह किसी से छिपा नहीं है। इस सम्बन्ध में सारे भारत के आर्य विद्वानों का सार्वदेशिक के प्रधान ने जो अनादर किया है वह भी किसी से छिपी हुई बात नहीं है।

४—'आर्य समाज साहित्य सर्वस्व' नामक एक ग्रन्थ सार्वदेशिक सभा के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसमें पौराणिकों द्वारा प्रकाशित 'दयानन्द-तिमिर भास्कर' आदि जैसे उलूल-जुलूल ग्रन्थ भी आर्यसमाज के प्रामाणिक कोटि में रखे गये।

५—सृष्टि-संवत् के सम्बन्ध में चल रहे विवाद में भी सार्वदेशिक के पदाधिकारी अपनी मोनोपोली चलाते रहे और चला रहे हैं। सार्वदेशिक साप्ताहिक में आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के बड़े व लम्बे-लम्बे लेख आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त को प्रामाणिक ग्रन्थ मानने तथा १ अरब ९७ करोड़ वाला सृष्टि संवत् ही ठीक है के समर्थन में प्रकाशित हुए। जिसमें ब्र० वेदव्रत मीमांसक के अन्यत्र प्रकाशित लेखों की अनर्थक आलोचना की गई। परन्तु जब ब्रह्मचारी जी ने उसके उत्तर में अपने लेख सार्वदेशिक सप्ताहिक में प्रकाशनार्थ दिये तो उन्हें रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया। यह पक्षपात पूर्ण रवैया उक्त ब्रह्मचारी जी के साथ ही हो ऐसी बात नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों के साथ भी हुआ और होता रहा है। ऐसे विद्वान् सार्वदेशिक सभा की ओर से निराश बैठे हैं अनेक मरते मर गये परन्तु सार्वदेशिक सभा के इन स्वयंभू नेताओं का शताब्दी समारोह दिल्ली में प्रदर्शनात्मक सम्मान प्राप्त नहीं किया। सृष्टि संवत् कौन सा सही है और कौनसा गलत है, इसका निर्णय तो विद्वान् ही कर सकते हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि ऋषि के ग्रन्थों में जो संवत् वर्णित हो वही सत्य माना जाना चाहिये। इस प्रश्न को सभा के अधिकारियों या पक्षधारी विद्वानों को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाना चाहिए।

६—डा० भवानीलाल जी भारतीय से महर्षि दयानन्द की जीवनी लिखवाली तथा अपने अनुरूप उसे संशोधित भी करवाली, फिर भी प्रकाशित नहीं की जबकि दूसरी ओर आर्य सिद्धान्तों से विपरीत उक्त ग्रन्थ प्रकाशित कर भारी धन का अपव्यय किया गया।

७—आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का दूसरे गुट के नेताओं को काटने के लिये विभाजन किया गया और १७-१८ बर्षों के बाद विवाद में से निकली हुई सभा को पुनः विवाद में डाल दिया गया। स्वामी श्रद्धानन्द की बलिदान अर्द्ध शताब्दी समारोह का एक ओर आयोजन का ढोंग, और दूसरी ओर उसी श्रद्धानन्द के स्मारक गुरुकुल कांगड़ी के विनाश का दोनों पक्षों द्वारा हो रहे ताण्डव नृत्य को देखकर ऐसा कौनसा आर्य नहीं होगा जिसका हृदय रो न उठेगा। यह निर्विवाद सत्य है कि गुरुकुल कांगड़ी का विवाद भी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के विवाद का ही एक प्रमुख अंग है। क्या इससे हमारी शिरोमणि सभा के नेताओं की घिनौनी आर्य नेतागिरी का पर्दाफाश नहीं होता है ?

८—सार्वदेशिक सभा के पदाधिकारियों की उपस्थिति एवं समर्थन

पर आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अधिवेशन [जो संभवतः सितम्बर १९७५ में हुआ था उस समय स्वा० इन्द्रवेश मीसा में बन्दी थे और अग्निवेश के पीछे पुलिस लगी हुई थी।] में सर्वप्रथम आर्य समाज की ओर से आपातकाल एवं २० सूत्रीय कार्यक्रम का समर्थन किया गया था उसके बाद तो आपातकाल में किस प्रकार सभा पदाधिकारियों ने संजय गांधी आदि की चमचागिरी की, उसपर विचार कर किस आर्य के हृदय में प्रबल विरोध (विद्रोह) की आग नहीं सुलगेगी ?

९—सभा की ओर से किसी भी पत्र का उत्तर न देना और अच्छे-अच्छे लेखों कविताओं को सार्वदेशिक पत्र में प्रकाशित न करना तो आम बात है परन्तु सार्वदेशिक सभा के प्रधान श्री रामगोपाल जी शालवाले वानप्रस्थ के वही पुराने तोतारटन्त लम्बे-लम्बे भाषण फोटो सहित छापकर श्रम, समय और कागज का अपव्यय करना क्या तानाशाही हरकत नहीं है ?

१०—अभी हाल ही में 'दयानन्द दिव्य-दर्शन' (महर्षि दयानन्द की चित्रमय जीवनी) ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। जिसका विमोचन भारत सरकार के गृपमंत्री चौ० चरणसिंह जी ने किया है। उसको देखकर हमें काफी दुःख ही नहीं हुआ बल्कि आर्य समाज की वर्तमान स्थिति पर रोना आया। महान् दुःख है कि अपने को दयानन्द का कट्टर भक्त मानने वाले लोगों ने ही दयानन्द के चित्रमय जीवन को विकृत किया है। हाय ! हमारे पतन की चरम सीमा देखिये कि दयानन्द जैसे महापुरुष के चित्र उनके अपने अनुयायी ही ठीक प्रकार चित्रित नहीं कर सके। लाला रामगोपाल शालवाले, वानप्रस्थ के प्रधानत्व में सभा द्वारा प्रकाशित दयानन्द दिव्य-दर्शन को देखने के बाद हमारे सभी साथियों के मन में इतना रोष उत्पन्न हुआ है कि यह आन्दोलनात्मक विज्ञप्ति निकालने पर विवश होना पड़ रहा है।

इस दिव्य-दर्शन में महर्षि दयानन्द के चित्र इतने भद्दे एवं जीवन की घटनाओं के इतने विपरीत हैं कि देखकर सभा प्रधान शालवाले जो वानप्रस्थ का ढोंग किये हुए हैं के प्रति स्वतः ही क्रोध की चिन्गारियाँ फूट पड़ती हैं दिव्य-दर्शन के चित्र एवं महर्षि जीवन की घटनाओं में अधिकतर संगति नहीं बैठी है। दिव्य दर्शन का प्रथम चित्र ही इस प्रकार प्रकाशित किया गया है जैसे दयानन्द कोई बड़े रोगी हों या रोनी सूरत लिये हुए हों। दिव्य दर्शन में दयानन्द को सार्वदेशिक सभा ने एक कार्टून बना दिया है। ऐसा लगता है कि सभा को माडर्न आर्ट या कार्टून शैली का प्रयोग करने के लिए दयानन्द जैसे बलिदानी तथा देवता का ही जीवन चरित मिला

था। अगर सार्वदेशिक सभा ही अपने संस्थापक के चित्रों को कार्टून जैसे चित्रों में चित्रित कर सकती है तो क्या आश्चर्य हुआ कि पौराणिकों ने आगे बढ़कर महावीर हनुमान के पूंछ लगाकर बन्दर, गरोश के शिर पर हाथी का सिर फिट कर कार्टून और योगिराज कृष्ण को चित्र में भोगीराज प्रदर्शित कर महापुरुषों का उपहास उड़ाया। पौराणिक तो सब अज्ञान तथा धार्मिक अन्धविश्वास के वशीभूत होकर करते हैं। परन्तु अपने को ज्ञानी मानने वाले आर्य अपने जन्मदाता महापुरुष के चित्र को कार्टून बना कर उसका उपहास उड़ायें तो इससे बड़ा जघन्य अपराध और पाप कौन सा होगा ?

महर्षि दयानन्द एक अखण्ड ब्रह्मचारी थे। सारा संसार उनके ब्रह्मचर्य का लोहा मानता है। परन्तु दिव्य दर्शन के किसी एक चित्र का एक अंग तक भी उनके अखण्डित ब्रह्मचर्य को प्रदर्शित नहीं कर सका है। इससे बढ़िया चित्र तो कक्षा कच्ची पहली और पक्की पहली की हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों में मिलते हैं। वहां भी पाठों में वर्णित पात्र मगन, छगन और रतन के अनुरूप चित्र प्रदर्शित किये जाते हैं परन्तु दयानन्द दिव्य-दर्शन के चित्र इनसे भी निम्न स्तर पर हैं।

सुना है, दयानन्द दिव्य दर्शन का कलाकार कोई मुसलमान है। परन्तु यह कैसे हो सकता है कि वह दयानन्द के चित्रों के साथ खिलवाड़ कर सके। उसका इतना साहस कदापि नहीं हो सकता। हाँ यह अवश्य हो सकता है और है कि सभा में कोई ऐसा छद्मवेशी आर्य और दयानन्द का कट्टर शत्रु बैठा है जो मिलकर, विश्वास में लेकर, सभा को बदनाम करने में लगा है। ऐसे अनार्य और विश्वासघाती तथा धोखेबाज को खोजकर अविलम्ब निसंकोच आर्य समाजियों को आगे आकर आर्य समाज की ओर से उसका मुंह काला करना (निकालना) चाहिये।

सबसे बड़ा दुःख तो यह है कि सभा के अन्य अधिकारी इन गड़बड़ियों के बाद भी चुप हैं। पिछले दिनों डा० विमला के शोध ग्रन्थ पर भी पहली आपत्ति किसी सभा अधिकारी ने नहीं उठाई थी। बल्कि अन्य लोगों ने उठाई थी। क्या सभा के अधिकारियों तथा आर्य समाजियों का खून जम गया है ? क्या हम यह मान लें कि सभा में कोई महर्षि दयानन्द का दीवाना नहीं रहा ? क्या सभा के सभी साधारण सभासद् अन्तरंग सदस्य तथा पदाधिकारी चुप रहकर महर्षि दयानन्द के निम्न कथनानुसार पाप नहीं कर रहे हैं ? सत्यार्थ प्रकाश के 'षष्ठ समुल्लास' तथा संस्कार विधि के

गृहाश्रम संस्कार के :अथ सभा स्वरूप लक्षण में दयानन्द कहते हैं: "जिस सभा में बैठे हुए सभासदों के सामने अधर्म से धर्म और झूठ से सत्य का हनन होता है, उस सभा में सब सभासद् मरे से ही हैं।"

"मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे, यदि सभा में प्रवेश करे तो सत्य ही बोले, यदि सभा में बैठा हुआ असत्य बात को सुन के मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले वह मनुष्य अति पापी है।"

सार्वदेशिक सभा के प्रधान जी वर्तमान घटिया किस्म एवं निम्न स्तर की प्राचीन भारतीय इतिहास की पुस्तकों की आलोचना कर भले ही अपनी गलतियों को छिपाकर अपनी नेतागिरी प्रदर्शित कर लें। परन्तु क्या प्रधान जी ने सार्वदेशिक सभा में प्राचीन भारत के सत्य इतिहास निर्माणार्थ कोई शोध कार्य प्रारम्भ करवाया है? अगर नहीं तो…

क्या आपातकाल में सभा के अधिकारियों ने श्रद्धानन्द बलिदान अर्धशताब्दी समारोह में श्रद्धानन्द के जीवन और कार्यों का सही-सही मूल्यांकन और विवेचन किया था? क्या आपातकाल में इन नेताओं ने आर्य समाज को कायरता की भट्ठी में नहीं झोंका था? अगर हां तो—

क्या डा० विमला का शोध ग्रन्थ आदि सार्वदेशिक सभा के द्वारा प्रकाशित करने योग्य था? क्या दयानन्द दिव्य दर्शन में दयानन्द के चित्र दयानन्द के चित्रमय जीवन को सही-सही प्रस्तुत करते हैं, या कार्टून बनाते हैं? अगर हां तो………

फिर हम निम्न हस्ताक्षरकर्ता सभा प्रधान के समक्ष निम्न मांगे रखते हैं—

१—या तो उक्त संपूर्ण गड़बड़ियों और विशेषकर, उक्त दोनों ग्रन्थ तथा दयानन्द दिव्य दर्शन के प्रकाशन में हुई हानि के लिये सार्वजनिक रूप से क्षमा याचना की जावे और इसकी बिक्री तत्काल बन्द की जाकर इसे निरस्त घोषित किया जावे।

२—या स्वयं अपने साथियों सहित सभा के सभी पद और सदस्यता तथा आर्य समाज की प्राथमिक सदस्यता से त्यागपत्र देकर किये गये पापों को घर बैठकर प्रायश्चित करें।

३—अगर नहीं तो अब आपकी कार्यवाहियां सहन सीमा से बाहर है। हमारे सामने 'सार्वदेशिक सभा के पदाधिकारियो गद्दी छोड़ो' आन्दोलन को तीव्र गति से प्रारम्भ करने के अतिरिक्त कोई और मार्ग शेष नहीं रह जाता है।

हमें पता लगा है कि सभा के शीघ्र ही नये चुनाव होने जा रहे हैं। तो नये चुनकर आने वाले पदाधिकारियों, अन्तरंग सदस्यों तथा साधारण सभासदों से हमारी प्रार्थना है कि अगर उक्त गड़बड़ियां करने वाले दोषी सभा प्रधान एवं अन्य सभा पदाधिकारी उक्त मांगों के अनुसार आचरण नहीं करते हैं तो गड़बड़ियों की अपनी अन्तरंग सभा में जांच करवाकर दोषी व्यक्तियों को आर्य समाज की प्राथमिक सदस्यता से निष्कासित करने का उद्योग करेंगे।

यह विज्ञप्ति आर्य समाज के किसी विशेष दल के समर्थन पर या उससे प्रेरित होकर नहीं प्रकाशित की जा रही है बल्कि निष्पक्ष होकर सभी (जो थोड़ा भी दयानन्द को मानता है) के सहयोग से प्रकाशित की गई है।

हम हैं आर्य समाज के सदस्य— स्वामी पमानन्द सरस्वती डा० दयाशंकर दिवाकर, रामकृष्ण आर्य, चन्द्रकान्त आर्य, कमलनयन वरुण, रामप्रसाद वैदिक, मदनलाल आर्य, कृष्ण स्वरूप, पुरुषोत्तम आर्य, अर्जुन देव, विजय सिंह, सुखवीर शर्मा, राधेश्याम, अयोध्या देवी, शान्ति देवी, आदि सब नगर आर्य समाज केथूनीपोल कोटा—विशम्भरनाथ, हरिप्रसाद, गणपत लाल, देव प्रसाद एवं ईश्वर सिंह—आर्य समाज रावतभाटा (कोटा)। सियावरशरण एवं चन्द्र बिहारी आर्य, आर्य समाज बारां। चेतनप्रकाश आर्य, बीकानेर। विश्वम्भर नाथ, राजेन्द्रकुमार आर्य, आनन्द नरहरि सप्रे' लक्ष्मणदास गुलाटी, आर्य समाज कोटा जं०। दि० १७-२-७८

आर्य समाज की शिरोमणि सभा का यह हाल है कि कोई कुछ भी कहता रहे अनसुनी करने में ही अधिकारी अपना कल्याण समझते हैं। दयानन्द-संदेश पत्रिका में आर्य-समाज साहित्य सर्वस्व, सायण व दयानन्द के वेद-भाष्यों की तुलना, विषयों पर अनेक लेख निकले किन्तु कोई उत्तर नहीं दिया। महर्षि दयानन्द ने विस्तृत तथा उपेक्षित सृष्टि संवत् के विषय में अपने ग्रन्थों में बहुत ही स्पष्ट तथा निर्णीत सिद्धान्त लिखा है। इस विषय में सार्वदेशिक सभा एवं आर्य समाज के समक्ष ट्रस्ट ने दो बार सृष्टि संवत् विशेपाङ्क निकाल कर विस्तार से इस विषयक समस्त शंकाओं का उत्तर देते हुए महर्षि की मान्यता को सिद्ध किया है। और सभा से इस विषय को धर्मार्य-सभा में रखने की प्रार्थना की है। किन्तु सभा अधिकारियों को ऋषि विरुद्ध आचरण कर ऋषि अपमान का तो खेद नहीं किन्तु अपने मान-अपमान का विषय बना बैठे हैं। सर्वप्रथम महर्षि की मिथ्या अज्ञात जीवनी छापकर भी सभा ने महान् पाप किया है।

सम्पादक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के प्रकाशन

सत्यार्थप्रकाश—स्थूलाक्षर—कल्याण साईज, पूर्ण कपड़ा जिल्द, मू० १६) पृष्ठ ८५२

सत्यार्थप्रकाश—(डेमी साईज २३×३६÷१६)मू० ४) सैंकड़ा २००) पृष्ठ ४२०

सत्यार्थप्रकाश—पुस्तक साईज, मोटा टाईप, मू० अजिल्द ५) सैंकड़ा ३००) सजिल्द ५-७५, फुल कपड़ा ६-५० । पृष्ठ ८२८

सत्यार्थप्रकाश—गुटका साईज, पृष्ठ ८५४, सफेद कागज, सुन्दर छपाई, फुल कपड़ा कवर, मू० ३.२० सैंकड़ा १५०)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—कल्याण साईज, सजिल्द ८)

दयानन्दलघुग्रन्थसंग्रह—इसमें महर्षि रचित चौदह ग्रन्थों का संग्रह है। पृष्ठ ४४८, मू० अजिल्द ४) सजिल्द ४-५०

आर्याभिविनय—(पदार्थप्रदीप टीका सहित) महर्षि ने इस ग्रन्थ में व्याख्या धाराप्रवाह भाषा में लिखी है। यत्र तत्र मन्त्र के अंश भी उद्धृत किये हैं इस प्रदाप टीका से पाठकों को मन्त्र के प्रत्येक पद का महर्षि व्याख्यानुसार क्या अर्थ है, यह ज्ञान भी सरलता से हो जायेगा आष वेदार्थ ही एकमात्र प्रामाणिक है। मू० २)। पृष्ठ २००

आर्योद्देश्यरत्नमाला—६) सैंकड़ा।

पञ्चमहायज्ञविधि—पृष्ठ ५२, मू०) ५०, मोटे कवर सहित, सैंकड़ा २५) पृष्ठ ६०

दयानन्दसन्ध्याहवन-पद्धति—ऋषि पद्धति का उनके समस्त ग्रन्थों से ज्ञान तथा समन्वय ऋषि का प्रामाणिक शुद्ध मन्त्रार्थ व्याख्या एवं कविता द्वारा रसास्वादन सहित ऋषि के समस्त ग्रन्थों में यत्र तत्र आये समस्त ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना विषयक विवेचन तथा ३० मन्त्र व्याख्या सहित। कागज चिकना, मोटा मपलिथो, मू० अजिल्द २) सजिल्द २-५० । पृष्ठ १६४

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र—अमर शहीद पं० लेखराम से संकलित मौलिक प्रामाणिक, सर्वोत्तम उर्दु भाषा का सर्वप्रथम हिन्दी में अनुवाद, कल्याण साईज, पृष्ठ १०४०, मू० २४)

दयानन्द-दिग्विजयार्क—महर्षि के जीवनकाल में लिखा व छापा गया ऋषि का जीवनचरित्र मूल लेखक स्व० गोपालराव हरि सम्पादक—भवानीलाल भारतीय बड़ा आकार, सजिल्द मू० ८)

विषय-सूची—महर्षि दयानन्द के समस्त ग्रन्थों, जीवनचरित्र, उपदेश आदि से संगृहीत डेमी साईज, पृष्ठ १८८, मू० २) रुपये।